मूढ़ मान्यताओं की भूलभुलैयों में भटकें नहीं

— श्रीराम शर्मा आचार्य

मूढ़ मान्यताओं की भूल-भुलैयों में भटकें नहीं

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २०१४

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

भ्रांतियाँ हटाएँ, कुरीतियाँ मिटाएँ

किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की प्रगति एवं समुन्नति में उसकी चिंतन पद्धति का सबसे बड़ा योगदान होता है। प्राचीनकाल की स्थिति भिन्न थी। तब बुद्धि का इतना अधिक विकास नहीं हुआ था और न ही चिंतन को प्रभावित करने वाले आज जैसे सुविकसित तंत्र थे। उपलब्ध प्रकृतिप्रदत्त परिस्थितियाँ तथा मानवी पुरुषार्थ प्रगति अथवा अवगति के कारण बनते थे। अस्तु, मानवी प्रयासों का एकमात्र केंद्रबिंदु था– बाह्य परिस्थितियों का अनुकूलन। वह मनुष्य के विकास की आरंभिक अवस्था थी, जब चिंतन का क्षेत्र अपरिचित था।

आज की स्थिति दूसरी है। साधनों का महत्त्व तो आज भी है, पर विचारशील समुदाय में उससे भी अधिक महत्त्व वैचारिक संपदा को दिया जा रहा है। समाज की सामूहिक चिंतन पद्धति का विकास अथवा पतन के अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकारा जा रहा है। अभीष्ट प्रयोजन के लिए जनमानस में एक निश्चित तरह की विचारधारा देने के मनोवैज्ञानिक प्रयोग भी विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से चलते रहते हैं। साम्यवाद की चिंतन पद्धति में देशवासियों को रँगने के लिए सरकारी, गैर सरकारी और शैक्षणिक स्तर पर प्रयास करते रहते हैं। रेडियो, टेलीविजन, पत्र-पत्रिकाएँ उक्त लक्ष्य को सार्थक करने में जन-मानस की ब्रेनवाशिंग करते तथा अपने प्रयोजन में सफल भी हो जाते हैं।

पूँजीवादी देशों में पूँजीवाद की उपयोगिता, सार्थकता सिद्ध करने के लिए कितने ही प्रत्यक्ष और परोक्ष राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रयोग चलते रहते हैं। अधिनायकवाद, साम्राज्यवाद के दिन तो लद गए पर अपने समय में वे भी उपर्युक्त तरह की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाकर ही सफल रहे। आज भी इस प्रकार के प्रयोग विविध प्रयोजनों के लिए विभिन्न रूपों में अधिकांश देशों में चलते रहते और सफल

होते देखे जाते हैं। अतएव समाज और देश के विकास की दिशाधारा क्या होगी, यह उस देश के नागरिकों की चिंतन पद्धति के ऊपर निर्भर करता है।

पाश्चात्य देशों का लक्ष्य भौतिक समृद्धि है। उनका चिंतन इसी के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। वे वर्तमान में जीते और अपनी समस्त चेष्टाएँ भौतिक प्रगति में नियोजित करते हैं। समय, श्रम, मनोयोग और चिंतन एक ही दिशा में निरत रहने से उन्होंने भौतिक क्षेत्र में असाधारण सफलता पाई है। साधन, स्वास्थ्य, शिक्षा, कला व विज्ञान के क्षेत्र में वे अग्रणी हैं। विकास एकांगी होते हुए भी वे अपने प्रयास में सफल रहे हैं। अपनी वैचारिक एवं चिंतन शक्ति का उन्होंने भौतिक उपलब्धियाँ करतलगत करने के लिए भरपूर उपयोग किया है, इस तथ्य से कोई भी विज्ञ व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता। आध्यात्मिक विकास की दूसरी मंजिल उन्हें पूरी करनी है जिसके बिना उनका जीवन अधूरा, अतृप्त और अशांत है।

भारत सदा से संस्कृति और अध्यात्म का संदेशवाहक रहा है। समय-समय पर इसने अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान की निर्झरिणी समस्त विश्व में बहाई है जिसमें अवगाहन करने वाले देश दोनों ही दिशाओं में सुसंपन्न बनते रहे हैं। इतिहास में ढेरों प्रमाण इसके बिखरे पड़े हैं। आज जबकि दूसरे देश समृद्धि एवं प्रगति के शिखर पर हैं अपना देश साधनों की दृष्टि से अविकसित पिछड़ी स्थिति में पड़ा अनेकानेक समस्याओं से ग्रस्त है। जो कभी अपनी भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक उन्नति के लिए विश्वविख्यात था, आज रोटी की समस्या सुलझा पाने में भी असमर्थ सिद्ध हो रहा है। इसका कारण क्या है? भौतिक अथवा वैचारिक परिस्थितियों की विपन्नता अथवा चिंतन की दुर्बलता।

स्थूल दृष्टि से विचार करने पर तो प्रथम कारण ही वास्तविक जान पड़ता है, पर थोड़ी गहराई से विचार करें तो प्रतीत होगा कि

परिस्थितियाँ विकास में उतनी बाधक अथवा सहायक नहीं होती जितनी कि समूह के विचारों की दिशाधारा। यही समाज और राष्ट्र के उत्थान अथवा अधःपतन का कारण बनती हैं। अपने देश की अवगति में वैचारिक भ्रांतियों की सबसे अधिक भूमिका रही है। लंबे समय तक देश गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा। हजारों वर्ष की परतंत्रता ने देश की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा है। गुलामी की दीर्घकालीन अवधि ने देश के विचार स्वातंत्र्य पर भी तीव्र आघात किया। जो कभी अपने स्वतंत्र, प्रखर एवं दूरदर्शी चिंतन के कारण अध्यात्म तत्त्वदर्शन का अन्वेषक माना जाता था वही अंधविश्वासों, कुरीतियों, मूढ़ मान्यताओं तथा कुपरंपराओं का केंद्र माना जाने लगा। हजार वर्ष की अवधि में कितने ही चित्र-विचित्र प्रचलन चल पड़े, जिन्हें विवेक की कसौटी पर कसने पर हँसी आती है। जाति-पांति, छुआछूत, ऊँच-नीच की मान्यता के कारण समय-समय पर हिंदू समुदाय का एक बड़ा वर्ग कटकर अलग होता रहा है। नारी को कनिष्ठ मानते रहने से उसकी क्षमताओं के योगदान से लंबे समय तक समाज को वंचित रहना पड़ता है। परदाप्रथा के कारण आत्महीनता की जो ग्रंथियाँ एक बार पैदा होती हैं, वह स्थायी रूप से जड़ जमा लेती हैं। फलतः नारी अपना वह आत्मविश्वास गवाँ बैठती है जिसके सहारे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकना संभव है। इन कुपरंपराओं, कुरीतियों की उत्पत्ति कैसे हुई? ये तब उचित थी अथवा अनुचित? इस विवाद में अब उलझने से कोई फायदा नहीं है। मूल बात यह रह जाती है कि आज की परिस्थितियों में उनकी उपयोगिता कहाँ तक है। कोई भी समझदार व्यक्ति उनका समर्थन नहीं करेगा। पर विडंबना यह है कि स्वतंत्रताप्राप्ति के पचपन वर्षों बाद भी अपना समाज उन कुरीतियों के जाल-जंजाल में जकड़ा हुआ है। इसे चिंतन की पराधीनता नहीं तो और क्या कहा जाए?

श्रम और पुरुषार्थ को भौतिक प्रगति एवं समृद्धि का माध्यम समझा जाता है। दूसरे देशों ने इन गुणों के सहारे अपने देश की समृद्धि बढ़ाई है। पर उस विडंबना को क्या कहा जाए कि समाज के अधिकांश व्यक्ति आलस्य और प्रमाद को, निकम्मेपन को ही बड़प्पन का परिचायक समझने लगे हैं। मुगलों और अँगरेजों ने निठल्लेपन का जो विषवृक्ष बोया था आज देश के अधिकांश व्यक्तियों में फूलते-फलते देखा जा सकता है। श्रमशीलता अन्य देशों में अभिनंदित है, पर अपने देश में उसे प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी है। श्रमजीवी वर्ग को सामाजिक तिरस्कार का भाजन बनना पड़े, इससे बढ़कर चिंतन की दुर्बलता और क्या होगी? यह वैचारिक कमजोरी ही तो है कि बिना सोचे-समझे विचार किए हर व्यक्ति ब्याह-शादियों में एक-दूसरे का अंधानुकरण करता और अपनी स्थिति से बढ़-चढ़कर धन की होली फूँकता है और मूक दर्शक की भाँति घर फूँक तमाशा देखता है।

समाज एवं देश की प्रगति के लिए साधन जुटाए जाएँ, यह उचित है और आवश्यक भी, पर जब तक वैचारिक पराधीनता बनी रहेगी साधनों का लाभ भलीभाँति उठा पाना संभव नहीं होगा। उपभोगकर्ता का स्तर और चिंतन भ्रांतियों में जकड़ा रहा तो प्रगति की आकांक्षा पूरी न हो सकेगी। राजनीतिक स्वतंत्रता को मिले तीन दशक से ऊपर हुए। समाज एवं देश की प्रगति का सपना सही अर्थों में उस दिन पूरा होगा जब भारतीय जनमानस संव्याप्त वैचारिक भ्रांतियों के जाल-जंजाल को तोड़कर बाहर निकलेगा।

सामाजिक जीवन में अनेक कुरीतियाँ, बुराइयाँ, दुष्प्रवृत्तियाँ और अंधपरंपराएँ फैली दीखती हैं और लगता है कि सामाजिक स्तर पर किए गए प्रयासों से ही इन्हें हटाया जा सकेगा। पर थोड़ा बारीकी से देखने पर पता चलता है कि व्यक्तिगत दोष-दुर्गुण समय-समय पर अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। कभी ये सामाजिक, कभी राजनीतिक और कभी धार्मिक मालूम पड़ते हैं। अवसर के अनुरूप उनकी

शक्ल भी दिखाई पड़ती है, पर उनकी जड़ एक ही है–पतनोन्मुख हीनवृत्ति।

प्रत्येक समाज में स्वस्थ परंपराएँ मौजूद हैं, उत्कृष्ट आचरण के लिए पर्याप्त स्थान और क्षेत्र मौजूद हैं। साथ ही कुछ न कुछ बुराइयाँ और अवांछनीयताएँ भी हर समाज में प्रचलित हैं। दोनों में से किसे चुना जाए, यह व्यक्तियों की अपनी अभिरुचि के ऊपर निर्भर है। जिनका मन दुष्प्रवृत्तियों, संकीर्णताओं, भीरुता और स्वार्थी भावनाओं से युक्त है, वह कुरीतियों को अपनाएगा। किंतु जिनमें साहस और विवेक मौजूद है, उनके लिए भिन्न प्रकार का मार्ग अपनाने एवं आचरण करने की पूरी-पूरी सुविधा मौजूद है। विवश किसी को किसी काम के लिए कोई नहीं कर सकता। इस जमाने में ऐसे सामाजिक बंधन किसी के ऊपर भी नहीं हैं।

लड़की बेचने वाले हमेशा से रहे हैं। मनुष्य जब निष्ठुरता धारण कर लेता है तो उसके लिए बूढ़ा बैल कसाई को बेचने में या अबोध कन्या को बूढ़े के साथ ब्याहने में कोई संकोच नहीं होता। किसी शास्त्र में नहीं लिखा है कि बूढ़े बैल कसाई को बेचकर या अबोध कन्याओं को अनुपयुक्त वरों के हाथ बेचकर धन कमाया जाए। ऐसी कोई परंपरा या सामाजिक प्रथा भी नहीं है। फिर भी यह अनीतिपूर्ण बुराई समाज में बहुत दिनों से चली आ रही है। प्रत्यक्ष में सभी लोग इसके विरोधी हैं, फिर भी कुरीति किसी न किसी रूप में बनी हुई है। अमीरों और राजाओं को अपनी युवा लड़कियाँ भेंट करके उनका लाभदायक अनुग्रह पाने वाले अनाचारी पहले भी रहे हैं और अब भी ऐसे दुष्टों की कमी नहीं जो किन्हीं छोटे-बड़े लाभों के लिए अपनी पारिवारिक इज्जत-आबरू गँवाने में संकोच नहीं करते। इन बातों की रोकथाम कोई प्रस्ताव पास करके नहीं हो सकती। जिनका मन निष्ठुरता, निर्लज्जता धारण कर ले, उनके लिए लोकनिंदा भी क्या महत्त्व रखेगी?

लड़का बेचने की, दहेज प्रथा की बुराई कौन स्वीकार नहीं करता? उसके द्वारा होने वाली हानियों से कौन परिचित नहीं है? शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति निकले जो अब खुले आम दहेज प्रथा का समर्थन कर सके। इतने पर भी जब अपना लड़का विवाह योग्य होता है तो हर व्यक्ति का मन दहेज पाने के लिए ललचाता है। जो व्यक्ति अपनी कन्या के विवाह के समय दहेज का घोर विरोधी था, माँगने वालों की कटु शब्दों में भर्त्सना करता था, वही जब अपने लड़के के विवाह में बेटी वाले का कलेजा निकाल लेने की पेशकश करता है, तब लगता है कि यह बुराई मनुष्य की लोभवृत्ति निर्लज्ज सीमा तक पहुँच जाने का प्रतिफल है। सरकार ने दहेज विरोधी कानून बना दिया है पर उसका प्रभाव इस प्रचलन पर जरा भी नहीं पड़ा। जो गतिविधियाँ पहले चलती थीं, वे ही अब भी चल रही हैं।

दहेज का सामाजिक पाप हर हिंदू के लिए गले की फाँसी बना हुआ है। कन्याओं का जन्म इसीलिए अभिशाप माना जाता है। उनकी उपेक्षा होती है, पिता के घर में पुत्रों की तुलना में कन्या को स्वास्थ्य, शिक्षा तथा सम्मान के अवसरों से वंचित रहना पड़ता है। विवाह के लिए धन जुटाने की चिंता में सीमित आय वालों को अनीति से धन कमाने एवं पाप कर्म करने को विवश होना पड़ता है। कितनी ही सुयोग्य कन्याएँ अयोग्यों के गले बँधती हैं। कोई व्यवस्था न होने पर निराशा के वातावरण में आत्महत्याएँ होती रहती हैं, दुराचार पनपता है और कितनी ही लड़कियों को आजीवन कुँआरी रहना पड़ता है। आशा से कम दहेज मिलने पर कई लड़कियाँ ससुराल वालों द्वारा तिरस्कृत या बहिष्कृत कर दी जाती हैं। कई बार तो उन्हें इसी उत्पीड़न में प्राण गँवानें पड़ते हैं।

ऐसी हत्यारी, अनैतिक और दुष्टतापूर्ण प्रथा का समर्थन करने के लिए किसी के पास कोई तर्क हो सकता है फिर भी यह बुराई देखा-देखी के नाम पर, परंपराओं के नाम पर, बात और इज्जत के

नाम पर अनेक विरोधों के बावजूद भी हमारी छाती पर पत्थर की शिला जैसी जमी बैठी है। बहाना यह किया जाता है कि दूसरों की देखा-देखी करते हैं। देखा-देखी के लिए हजारों उदाहरण पहले भी ऐसे मौजूद थे और अब भी ऐसे मौजूद हैं, जिनमें विचारशील लोगों ने अत्यंत सादगी एवं मितव्ययता के साथ विवाह कार्यों को संपन्न किया है। क्या उन आदर्शों की परंपरा समाज में मौजूद नहीं है? क्या उनका अनुकरण नहीं किया जा सकता?

बुरी से बुरी और अच्छी से अच्छी बातें समाज में होती रहती हैं। मानवीय मस्तिष्क जिन्हें अपनी रुचि के अनुकूल मान लेता है, उन्हीं का अनुकरण करता है, उन्हें ही परंपरा मानता है। जो बातें उसकी रुचि के प्रतिकूल हैं उन्हें अपवाद मानता है, उपेक्षणीय एवं उपहासास्पद समझता है। कोई भी प्रथा सर्वमान्य या निरापद नहीं है। अपनी मानसिक या नैतिक दुर्बलताओं के कारण भली परंपराओं की तुलना में व्यक्ति बुरी को चुनता है और बहाना यह करता है-क्या करें, पथ पर चलना पड़ता है लोकोपवाद एवं समाज निंदा इसके लिए विवश करते हैं। यह बहाना सर्वथा असंगत है। सही बात यह है कि यदि कोई आदर्श कार्य करने का साहस करे तो उसकी विवेकशीलता को हर जगह सराहा जाएगा और कमजोर तबीयत के आदमी भी उससे प्रेरणा पाकर अनुकरण करने का साहस जुटा सकेंगे।

देवताओं के आगे व्यक्ति अपनी कोई मनौती मनाने के लिए पशु-पक्षियों की बलि चढ़ाने जैसे हृदयहीन कार्य करता है। कोई जानता है कि दूसरों को कष्ट देने का परिणाम किसी के लिए भी आज तक श्रेयस्कर नहीं हुआ है। पशुओं की जान लेकर अपनी या अपने बच्चों की खैर मनाना ईश्वरीय नियमों के विरुद्ध है। इतने पर भी स्वार्थांध लोग यह सब करते रहते हैं। कोई दूसरा स्वार्थी अपनी मनौती मनाने के लिए उनके बच्चे की बलि चढ़ाने पकड़ ले जाए तो वे उसका घोर विरोध एवं प्रतिरोध करेंगे परंतु दूसरे जानवरों के बच्चों को

मारकर देवता को प्रसन्न और अपनी भलाई की आकांक्षा पूरी करने की कल्पना में, वही दुष्कर्म करते हुए स्वयं संकोच नहीं होता। धर्म और नीति का यह दोहरा अर्थ कराने के लिए कोई परंपरा विवश नहीं करती। जो लोग बलि नहीं चढ़ाते उनके देवता भी तो प्रसन्न रहते हैं। उनका अनुकरण करने में क्या बाधा है? अहिंसा की प्रथा-परंपरा भी तो समाज में मौजूद है-उसका अनुकरण करने में क्या कठिनाई है?

भूत-पलीत, जादू-टोना, अलन-चलन, नेग-जोग, रीति-रिवाज के नाम पर अगणित अंधविश्वास समाज में प्रचलित हैं। इनमें बहुत धन और समय बरबाद होता है। भ्रांति फैलती है और अंधविश्वास बढ़ता है। मृत्युभोज सरीखी प्रथाएँ समाज की आर्थिक कमर तोड़ देने वाली सिद्ध हो रही हैं। जिस घर में एक व्यक्ति को मरे पंद्रह दिन भी नहीं हुए हैं, उनके यहाँ भारी दावत का सरंजाम जुड़े, इसमें कौन सी बुद्धिमत्ता की बात है। शास्त्रों में मृतक-श्राद्ध की बात का उल्लेख तो है पर उसका अर्थ लंबे-चौड़े प्रीतिभोजों से कदापि नहीं लिया जा सकता। जो लोग अंत्येष्टि, त्रयोदशीया श्राद्ध कर्म जैसे आवश्यक कर्मकांड करने तक ही सीमित रहते हैं, जो प्रीतिभोज नहीं करते, उन्हें समाज से कौन बहिष्कृत कर देता है? औघी अक्ल के आदमी एक-दो दिन चें-चे करके चुप रह जाते हैं।

जहाँ ज्ञान और विचारशीलता जाग्रत नहीं है, वहीं बाल-विवाह चलता है। पिछड़े हुए क्षेत्रों में आज भी लाखों बाल-विवाह हर वर्ष होते हैं, क्या उनका अनुकरण सभ्य लोगों को भी इसलिए करना चाहिए कि वह प्रथा परंपरा बड़े परिमाण में चल रही हैं। अशिक्षित वर्ग में रोगों और अभाव-कष्टों का कारण देवताओं या भूतों की नाराजगी मानी जाती है और उसका निवारण करने के लिए वे जो टंट-घंट करते रहते हैं-क्या उन्हीं का अनुकरण करना चाहिए? यदि नहीं, तो यही क्या जरूरी है कि खाते-पीते लोगों में जो कुरीतियाँ मौजूद हैं, उन्हें आँखें बंद करके अपनाया जाए?

परदाप्रथा के कारण महिलाओं को अस्वस्थ, परावलंबी, अशिक्षित, अनुभवहीन बनाए रहने में कौन सी बुद्धिमानी है? संसार भर की महिलाएँ जब पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर प्रगति के पथ पर तेजी से अग्रसर हो रही हैं, अपनी सुविकसित क्षमता अपने परिवार तथा सारे समाज को देकर, वे एक उदाहरण बन रही हैं तो उसी परंपरा को क्यों न अपनाया जाए? पिंजरे के पंछी की तरह घर की चहारदीवारी में कैदी बनाकर घूंघट की प्रथा को बनाए रहने में न तो किसी शास्त्र मर्यादा का समर्थन है और न किसी ईश्वरीय आदेश का समावेश। सामंतवादी युग के अनाचारों का एक टूटा सा खंडहर मात्र परदा अभी भी जहाँ-तहाँ जीवित है। बंदरिया जिस तरह अपने मरे बच्चे को छाती से चिपकाए फिरती है, उसी तरह रूढ़िवादी मनुष्य भी इस मूर्खतापूर्ण एवं हानिकारक प्रथा को मानते रहें तो इसमें कौन समझदारी की बात कही जाएगी?

भली और बुरी प्रथा-परंपराओं में से केवल बुरी को ही चुनना-यह मनुष्य की व्यक्तिगत मूर्खता, दुर्बलता, भीरुता एवं प्रतिगामिता के चिह्न मात्र हैं। सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों की चर्चा करके लोग अपनी निजी त्रुटियों को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं। अविवेकपूर्ण, अनुपयुक्त प्रथाओं को छोड़ देने में कोई ऐसी भारी कठिनाई किसी के सामने उपस्थित नहीं हो सकती। लोग तो चोरी, बेईमानी, बदमाशी, अनीति एवं दुष्टता से भरे अनेकों दुष्कर्म करके भी समाजनिंदा की परवाह नहीं करते। फिर भी यदि मनुष्य सन्मार्ग पर चलने के लिए, सही कार्य करने के लिए अनुपयुक्त प्रथाओं को हटाने का साहस करता है और इनमें किंहीं अविवेकियों की आलोचना को सहना पड़ता है तो इसमें क्या बड़ी बात हो गई? कुरीतियों को अपनाकर भारी हानि सहन करने की अपेक्षा उन्हें ठुकराकर दो-चार दिन चर्चा का विषय बने रहना बुरा नहीं है। लोग अपने कार्यों में व्यस्त रहते हैं। दो-चार दिन में वे दूसरों के भले-बुरे सब कार्यों को भूल जाते हैं। नई

प्रथा, नई बात आरंभ में अजनबी सी लगती है, उससे लोग चौंकते हैं, पर कुछ ही दिन में वह नई बात भी परंपरा बन जाती है।

स्वस्थ परंपराओं को जन्म दिया जाना चाहिए। समाज एवं व्यक्ति का वास्तविक हित जिसमें होता है उसी मार्ग को अपनाना चाहिए। अपना मत सदा नीति, न्याय और औचित्य के पक्ष में रखना चाहिए। कुकर्म करते हुए एक छोटे बच्चे से भी अपनी अंतरात्मा से भी डरना चाहिए। पर सत्कर्म एवं श्रेष्ठ प्रथा-परंपराओं का आरंभ करते हुए मनुष्य को सारे समाज की सारी दुनिया की भी परवाह नहीं करनी चाहिए। अनीति और अनाचार के विरुद्ध यदि अकेले ही लड़ने के लिए खड़े होना पड़े तो उसमें झिझकना नहीं चाहिए।

सचाई और बुद्धिमानी के मार्ग को अपनाकर अकेले भी आगे बढ़ा जाय तो हर्ज नहीं। इतिहास बताता है कि समाज सुधारकों और युग निर्माताओं को अकेले होने की चिंता न करके ही अपना पथ प्रशस्त करना पड़ा है। शंकराचार्य, दयानंद, बुद्ध, गांधी, ईसा, लूथर, मार्क्स, गैलीलियो आदि ने आरंभ में अकेले बुद्धिमत्तापूर्ण बातें कहीं, तो उन्हें असंख्य लोगों ने स्वतः शिरोधार्य कर लिया।

अंधपरंपराओं की जड़ मनुष्य की आंतरिक अविवेकशीलता और भीरुता में छिपी पड़ी रहती है। हेय और कष्टकारक कुप्रथाएँ यदि हटानी अभीष्ट हों तो इसके लिए सामाजिक आंदोलनों से ही काम न चलेगा, वरन व्यक्ति के अंतःकरण में भरी हुई कायरता एवं दुर्बलता को भी हटाना पड़ेगा। सत्य के लिए साहस, औचित्य के लिए अवस्था और सन्मार्ग के लिए उत्साह यदि हमारी मनोभूमि में स्थान प्राप्त कर ले तो सामाजिक कुरीतियों को मिटा देने का कार्य उतना ही सरल सिद्ध होगा जितना कागज के बने रावण को एक दीयासलाई लगाकर देखते-देखते भस्म कर देना, यह साहसपूर्ण कदम उठाने का कार्य प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप से ही आरंभ करना होगा, तभी समाज से कुरीतियों, कुप्रथाओं एवं मूढ़ मान्यताओं का अंत हो सकेगा।

❐

अंधविश्वासों के दलदल से निकलें

मनुष्य अपने विश्वासों की ही छाया है। जैसा मनुष्य का विश्वास होगा वैसे ही उसके संस्कार बनते जाएँगे। उन्हीं के बलबूते पर वह अँधेरे रास्तों पर चलने तथा खाई-खड्ढे तक में गिरने को तैयार होता जाएगा। इसका वास्तविक कारण यह है कि जब मनुष्य एक ही दिशा में सोचता और विश्वास के अनुसार ही कार्य करता है तो उसी के अनुरूप उसके संस्कार बनते जाते हैं और संस्कारों के विपरीत सोचने तथा उनके प्रतिकूल चलने में उसे पीड़ा, परेशानी तथा बेचैनी होने लगती है। आत्मविश्वास, ईश्वर के प्रति विश्वास, आदर्शों के प्रति आस्था जहाँ अपनी सत्तामूलक शक्ति से लोगों को लाभान्वित करती है, वहीं यह विश्वास की शक्ति भी उसके मूल में रहती है।

विश्वास जहाँ एक शक्ति है, मनुष्य को ऊँचा उठाती है, वहीं अंधविश्वास उस शक्ति का एक ऐसा विकृत रूप है जो उसे पतन के गर्त में गिराती है। हमारे समाज में इस शक्ति का विकृत रूप एक महामारी की तरह अपनी विनाशलीला मचाए हुए है। अन्य रोग तो केवल मनुष्य शरीर तक ही सीमित रहते हैं तथा सावधानीपूर्वक उपचार करने के बाद पीछा छोड़ देते हैं। किंतु अंधविश्वास की बीमारी एक ऐसी घृणित बीमारी है जो शरीर पर तो अपना प्रभाव डालती है- मन, बुद्धि और आत्मा तक को अपना ग्रास बनाकर उसे जड़ बना देती है। यही कारण है कि लोग अंधविश्वासों के कारण प्रत्यक्षतः हानि उठाकर भी दोषी अंधविश्वासों को नहीं समझते, वरन इसका कारण कोई भूल-चूक ही समझते हैं तथा अंधविश्वास को फिर भी नहीं छोड़ने से इसलिए डरते हैं कि उन्हें किसी और नए तथा बड़े अनिष्ट की आशंका होने लगती है। यह भी मानने लगते हैं कि इन विधि-निषेधों का पालन करने पर तो यह हानि हुई, इनका पालन न किया जाए तो आगे और न जाने क्या हानि होगी?

अंधविश्वासों का शिकार केवल अशिक्षित जनता ही होती हो, ऐसा भी नहीं है। अशिक्षित और अनपढ़ लोगों के साथ-साथ कई एक

शिक्षित व सुसंस्कृत व्यक्ति भी अंधविश्वासों की गिरफ्त में फँसे हुए दिखाई देते हैं। कई डॉक्टर और इंजीनियर शरीर के किसी अंग पर छिपकली गिर जाने से मृत्युभय की कल्पना करने लगते हैं तथा किसी भारी अनिष्ट की आंशका से काँपने लगते हैं।

इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि भारतीय समाज के अध:पतन का कारण न हमारी कमजोरी रही है और न कायरता। शक्ति, साहस और शौर्य के मामले में दुर्दांत से दुर्दांत आक्रमणकारी भी भारतीय वीरों के आगे नहीं टिक सके हैं। पर अंधविश्वास के कारण भारतीय वीर उचित समय पर निर्णय लेने से कतरा गए और इसी के कारण शताब्दियों तक बाँधे रहने वाली दासता की बेड़ियाँ हमारे समाज के पैरों में पड़ी।

कई उदाहरण हैं जब हमने अंधविश्वास या अतिविश्वास के कारण मुँह की खाई। इसका एक बड़ा प्रमाण इतिहास में सोमनाथ की हार के रूप में मिलता है। जब महमूद गजनवी ने गुजरात के इस मंदिर पर आक्रमण किया था। उस समय सोमनाथ मंदिर के प्रमुख प्रबंधक और मुख्य पुजारी गंग सर्वज्ञ थे। गंग सर्वज्ञ एक ऐतिहासिक पात्र हैं और अपने समय के प्रकांड विद्वान रहे हैं। सारे देश की जनता ही नहीं देशभर के विद्वानों सहित सभी राजगण भी उन्हें मानते थे। उनके व्यक्तित्व को महानतम समझा जाता था और जैसी कि उनके नाम के सामने उपाधि थी 'सर्वज्ञ', उसी रूप में उन्हें उनकी बातों को देखकर, समझकर माना जाता था। किंतु गंग सर्वज्ञ गजनवी के हमले से लेकर मंदिर लुट जाने और सोमनाथ की मूर्ति के खंड हो जाने तक यही कहते रहे कि भगवान अपनी रक्षा करने में स्वयं समर्थ हैं। मंदिर की रक्षा के लिए वे अवश्य प्रकट होंगे तथा अपना तीसरा नेत्र खोलकर आक्रमणकारियों को भस्म कर देंगे।

गंग के इस आश्वासन और लोगों के उनके प्रति अति विश्वास के कारण प्रतिरोध का प्रयत्न शिथिल पड़ता गया तथा लोग उस

चमत्कार की प्रतीक्षा करने लगे। गजनवी आया और मंदिर लूटकर तथा मूर्ति तोड़कर चला गया। न भगवान शंकर प्रकट हुए और न उन्होंने अपने तृतीय नेत्र से अक्रांताओं को भस्म किया। यह बात सही हो सकती है कि गंग का उद्देश्य देश को पथ भ्रांत करने का नहीं रहा हो। पर यह उनका अति विश्वास ही था जो अंधविश्वास बनकर इस रूप में बोला था। लोगों ने उनके कथन पर आँखें मूंदकर विश्वास किया व चमत्कार देखने की प्रतीक्षा में अपने प्रयत्नों को शिथिल छोड़कर जानते-बूझते अपने आप को लुटने दिया।

पृथ्वीराज ने मोहम्मद गौरी को सत्रह बार हराया था। हर बार हार कर, अपनी क्षतिपूर्ति कर गौरी बार-बार चढ़कर आता रहा तथा हारकर जाता और फिर आक्रमण करने आ जाता। अंतिम बार उसे विजय मिली तो वह भी हमारी इसी कमजोरी के कारण कि हम उचित समय पर उचित निर्णय लेने में असमर्थ रहे। बताया जाता है कि गौरी ने जब आखिरी बार आक्रमण किया जिसमें कि उसे विजय मिली तो उसने अपनी सेनाओं के आगे गायों की एक कतार खड़ी की। वह जानता था कि भारतीय जनता गायों को माँ के समान मानती है और किन्हीं भी परिस्थितियों में वह उन्हें नहीं मारेगी। गायों की रक्षा एक आदर्श था परंतु इसे अंधविश्वास ही कहा जाना चाहिए कि देश रक्षा के महान आदर्श की तुलना में कम महत्त्व के इस आदर्श को हमने अधिक महत्त्व दिया। गायों की पंक्ति को सामने देखकर पृथ्वीराज किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया तथा उसने बिना लड़े ही हथियार डाल दिए। यह अंधविश्वास भारत को अंधकारपूर्ण बनाने का कारण बना।

न जाने कितने अंधविश्वास और न जाने कितने अपशकुन हैं जो इतिहास में पाए जाते हैं और सिद्ध करते हैं कि साहस, शौर्य, वीरता तथा साधनों का अभाव न होने पर भी लोग किस तरह हारे हैं? तलवार खुल जाना, कटार निकल पड़ना, जीन खिसक जाना, धनुष उतर जाना, पगड़ी बिगड़ जाना, मुकुट मुड़ जाना जैसी छोटी-छोटी बातों को पराजय की सूचक मानकर अंधविश्वासी राजा और योद्धा

अपनी मान्यताओं के कारण आधे तो उसी क्षण हार गए। उनके आत्म विश्वास में दरारें पड़ गई और इस कारण इतिहास की धाराएँ ही बदल गई। लोट-झुक जाने, मीनार मुड़ जाने, कंगूरा उखड़ जाने और गुंबद गरक जाने को बादशाहों ने हुकूमत उखड़ जाने का संकेत माना और वे पस्त हिम्मत होकर बैठ गए। फलस्वरूप बड़ी-बड़ी राजनीतिक हानियाँ हुईं।

यह तो हुई राजा-महाराजाओं के अतीतकालीन अंधविश्वासों की कहानी। जनसाधारण उनसे भी आगे अपने चारों ओर असंख्यों अंधविश्वासों को बनाए रहा। आज भी अंधविश्वासों की कमी नहीं है। सुबह बिस्तर पर उठने से लेकर सोने तक के सारे क्रिया-कलापों में अंधविश्वासों एवं शुभाशुभ मान्यताओं की शृंखला सी बनी हुई है। कौन सा पैर पहले जमीन पर रखें, जगते ही हथेली देखना, रेखाएँ चूमना और को देखने से पहले दर्पण देखना आदि सब किसी न किसी अंधविश्वास पर ही आधारित हैं। घर हाट, हाट-बाट, उठने-बैठने, चलने-फिरने और यात्रा करने में अंधविश्वासपूर्ण विचार भरे पड़े हैं। आदमियों का मिलना, पशुओं का दिखाई देना, उनका खाँसना, छींकना और आवाज करना, सूँघना, मुँह उठाना, रास्ता काटना, दिशा बदलना, दाएँ अथवा आगे-पीछे चलना, न जाने कितने प्रकार के अंधविश्वासों के माता-पिता हैं। घरों में बहू-बेटियों की जिंदगी कदम-कदम पर अंधविश्वासों की वंदिनी है, कहाँ पर बैठें, किस ओर पैर करें तथा किस ओर पीठ करें, सिर किधर होना चाहिए, कौन सी करवट से सोना चाहिए, आदि छोटी बातों का निश्चय और नियमन परंपरागत अंधविश्वासों के आधार पर किया जाता है।

इसी प्रकार व्यावसायिक जीवन में दुकानदार दुकान खोलते समय कौन सा किवाड़ पहले खोले कौन सा पैर पहले रखें, किस ग्राहक को कौन सी चीज बेचकर प्रथम बिक्री अर्थात बोहनी करे, कितने पैसों की चीज बेचकर दुकानदारी की शुरुआत की जाए, कौन सी तराजू के कौन से पलड़े में क्या चीज तौलकर पहले-पहल बेची

जाए आदि बातों का निर्धारण किया जाता है। पलड़े का उलट जाना, जोत का चढ़ जाना, डोरी का टूट जाना, बांट का गिर जाना, डंडी का टूट जाना आदि बातों को अपशकुन अर्थात अशुभ चिह्न समझा जाता है। और कहना नहीं होगा कि इन मान्यताओं के पीछे कोई न कोई अंधविश्वास अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है।

इन अंधविश्वासों का पहला दुष्परिणाम मानसिक स्थिति के कमजोर कर लेने, मनोबल के गिरा लेने के रूप में होता है। छींक आ जाने पर यात्रा रोक देते, बिल्ली के रास्ता काट जाने, खाली घड़ा मिल जाने, काना व्यक्ति मिल जाने से लोग यात्रा पर निकलने अथवा किसी काम का आरंभ करने से पूर्व ही अपनी असफलता का अनुमान कर लेते हैं। मनोबल गिरा लेने के कारण असफलता की संभावना ५० प्रतिशत वैसे ही हो जाती है। फिर प्रयत्नों में आई शिथिलता रही-सही कमी और पूरी कर देती है। जैसे वैद्यों या डॉक्टरों को लेने जाते समय कोई अपशकुन हो गया तो बीमार के मर जाने की, न बचने की धारणा निश्चित कर ली जाती है और उपचार के प्रयत्नों को भी शिथिल कर दिया जाता है। फलस्वरूप बीमारी के उपचार और फायदे की रही-सही संभावनाएँ भी जाती रहेंगी।

शुभ मुहूर्त और अच्छी घड़ी की तलाश में लोग अपना समय तो बरबाद करते ही हैं। इस चक्कर में फँसकर अपनी भयंकर हानि भी कर लेते हैं। उदाहरण के लिए ब्याह-शादी, संस्कार तथा व्रत आदि शुभ घड़ी में करने का प्रचलन है। जब कभी इस प्रकार का विधान किया गया होगा तो उसका उद्देश्य यही रहा था कि सुविधाजनक समय, अनुकूल ऋतु के उपयुक्त कोई दिन इसके लिए चुना जाए। लेकिन अब प्रायः हर छोटे-बड़े कार्य के लिए शुभ मुहूर्त पूछने को लोग पंडितों के पास दौड़े चले जाते हैं। नई दुकान खोलनी हो या नया मकान बनवाना हो, बेटी को विदा करना हो या नौकरी पर जाना हो तो शुभ मुहूर्त तलाशा जाता है। अशुभ मुहूर्त का भय लोगों के मन में इस कदर सवार है कि इसके कारण नितांत आवश्यक कार्यों में भी शुभ

मुहूर्त के लिए विलंब हो जाता है और कई बार भयंकर हानियाँ तक उठानी पड़ती हैं। कितने ही लोगों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ता है तथा कितनों को ही अन्य दूसरे तरह की हानियाँ उठानी पड़ती हैं।

यहाँ तक कि रोग, बीमारी तथा स्वास्थ्य जैसी शारीरिक स्थितियों तक हम लोगों ने अंधविश्वासों को विस्तृत कर लिया। मंत्र-तंत्र और झाड़-फूँक तथा नजर-गुजर के दौर अशिक्षित और पिछड़े लोगों तथा स्त्रियों में खूब जोर से चलते हैं। स्त्रियाँ 'शीतला माता' और 'मोतीझिरा' जैसे रोगों को भी देवी-देवता का प्रकोप समझती हैं और उनके लिए कोई उपचार कराने के स्थान पर कल्पित देवी-देवताओं के आलयों में धूप-दीप जलाकर अपने बच्चों की आरोग्य की कामना करती हैं। उनके ममत्व और वात्सल्य पर उँगली नहीं उठाई जा सकती। पर अपने अंधविश्वासों के कारण, अज्ञान और लकीर की फकीरी के कारण उनका व्यवहार बच्चों के प्रति शत्रुतापूर्ण स्तर का ही हो जाता है। ममता और वात्सल्य की कमी नहीं है, पर अंधविश्वासों का जहर उसे भी विषैला बना देता है।

जिन अंधविश्वासों का पालन करते हुए हमने अब तक बड़ी हानियाँ उठाईं, जिनके कारण हम लगभग दो हजार वर्ष तक गुलाम रहे तथा जिन विश्वासों का पालन करते हुए हम आज भी अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में दु:ख और क्लांति के बीज बो रहे हैं, उन्हें ढोते रहने से क्या फायदा? पिछले अनुभवों से सीखकर हम अब भी इन अंधविश्वासों से चिपटे रहे तो हम सा मूर्ख और कौन होगा।

❐

औचित्य को ही मान्यता मिले

आदिम युग में वर्षा, आँधी-तूफान, बिजलियाँ कड़कने और बादल गरजने जैसी प्राकृतिक घटनाओं के कारण मनुष्य भयभीत हुआ और उसने किसी अदृश्य शक्ति की कल्पना कर अपना भय दूर करने के लिए उसे प्रसन्न करना आवश्यक समझा। इसी के लिए उसने प्राकृतिक शक्तियों की पूजा-उपासना से लेकर उसे प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह के उपचार-प्रयास खोज निकाले। आधुनिक बुद्धिजीवी ईश्वर की कल्पना का प्रथम उदय यहीं से मानते हैं। कोई भी शोध अपने प्रारंभिक रूप में भौंडी और बेहूदी रहती है। धीरे-धीरे वह परिमार्जित होती जाती है और प्रारंभ में मनुष्य के लिए भले ही व्यर्थ और अनावश्यक रही हो, आगे चलकर उपयोगी तथा जीवन का अनिवार्य अंग बन जाती है। आदि मानव ने अदृश्य शक्ति का कार्यक्षेत्र भले ही इन प्राकृतिक घटनाओं तक माना हो परंतु जैसे-जैसे मनुष्य विकसित होता गया उसके मस्तिष्क ने ईश्वर की सर्वसमर्थ, सर्वशक्ति और सर्वव्यापी नियामक सत्ता को सृष्टि के कण-कण में समाया हुआ खोज लिया।

आज भले ही लगे कि आदिम युग की वह कल्पना एकदम निराधार और बेतुकी थी परंतु मनुष्य ने उसी से प्रेरणा लेकर ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का पता लगाया। आज हम आदिमानव की कल्पना पर हँस सकते हैं परंतु उस समय जिस व्यक्ति के दिमाग में यह कल्पना आई होगी, उसे लोगों ने अपने युग का मनीषी कहा होगा। पक्षियों को उड़ते देखकर स्वयं पंख लगाकर उड़ने की कल्पना जिस किसी ने भी की हो वह हास्यास्पद रहा होगा परंतु उसी कल्पना से प्रसूत शोध और आविष्कारों के कारण आज ध्वनि की गति से भी तेज चलने वाले विमान बनाना संभव हो सका है।

कोई कल्पना जिसका कोई आधार नहीं रहा हो, अपने समय में भले ही अनूठी, अद्वितीय और जनसाधारण की दृष्टि में अभिनंदनीय रही हो, सदैव समीचीन और व्यावहारिक नहीं होती। अपने समय के

साथ ही वह मर जाती है फिर भी बाद के समय में यदि कोई उसे अपनाए रहने के लिए आग्रहशील रहे तो मुरदे को छाती से चिपटाए रहने जैसी विक्षिप्त प्रवृत्ति ही कही जाएगी। चर्चा उन परंपराओं और विश्वासों की की जा रही है, जिनका अनुकरण किसी युग में प्रशंसनीय समझा जाता था परंतु आज वह सर्वथा अव्यावहारिक हैं क्योंकि उनकी व्यर्थता सिद्ध हो चुकी है, वे मिथ्या साबित हो चुकी हैं।

यद्यपि जिस युग में वे प्रचलित थीं, उस समय भी मिथ्या ही थीं परंतु मनुष्य का बौद्धिक विकास इतना नहीं हुआ था कि वस्तुस्थिति को देख सके। इसलिए उस युग में उन प्रवृत्तियों को क्षम्य कहा जा सकता है। जैसे बिजली गिरते और ओलावृष्टि होते देखकर आदि-मानव ने यह सोचा कि कोई अदृश्य शक्ति मनुष्य को अथवा उसके पाले जानवरों को खाना चाहती है क्योंकि इन घटनाओं के कारण कई व्यक्ति और जानवर मर जाते थे। इसलिए उस समय किसी ने यह विकल्प दिया हो कि हम स्वयं ही अपनी ओर से नरबलि या पशुबलि दे दें तो शायद हमें दैवी प्रकोप का शिकार न होना पड़े। परंतु आज के समय इस दृष्टि से सोचना न केवल अनुचित है वरन अपराध भी है।

वस्तुतः पिछले दो हजार वर्षों के इतिहास को भारतीय समाज और संस्कृति का अंधकार युग कहा जाना चाहिए, क्योंकि इस अवधि में अपने समाज की स्थिति निरंतर पतनोन्मुख ही रही। पतनशील प्रवाह अब इस स्थिति में पहुँच गया है कि इस प्रवाह को न रोका गया तो हमें अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और उत्कृष्टता दर्शन के अवशेषों से भी हाथ धो बैठना पड़ेगा। इस समय जो स्थिति है, उसमें न तो भारतीय सभ्यता के उस गौरवशाली रूप का कहीं दर्शन होता है, जिसके कारण हमारा देश जगद्गुरु और चक्रवर्ती कहा जाता था और न ही वे विशेषताएँ कहीं दृष्टिगोचर होती हैं, जिनके कारण इस भूमि पर बसने वाले परिवारों में नररत्न उपजते थे।

इन दिनों अपना समाज मूलतः दो भागों में विभक्त है। एक वह जो अशिक्षित और पिछड़ा कहा जा सकता है तथा दूसरा वर्ग वह जो शिक्षित और विचारशील कहा जाता है। एक वर्ग में धार्मिक आस्थाएँ

अभी भी विद्यमान हैं पर वे इतने विकृत रूप में जीवित हैं, उनकी सड़ाँध ऐसे सामाजिक रोग उत्पन्न किए दे रही है, जो समाज को मरणोन्मुख ही कर रही है, दूसरी ओर प्रगतिशीलता का तमगा लटकाए विचारवान कहा जाने वाला वह वर्ग है जो अपनी गौरव-गरिमामय संस्कृति की ओर से आँखें मूँदे हुए है तथा पश्चिमी सभ्यता के रंग में ही रँगा और उसी प्रवाह में बहा जा रहा है। पहला वर्ग विचारवान नहीं है इसीलिए उससे समाज-सुधार के लिए आगे आने की उतनी अपेक्षा नहीं की जा सकती, जितनी शिक्षित वर्ग से। परंतु शिक्षित वर्ग भी कहाँ स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाए हुए है? वह भी तो पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में बहता हुआ निराश होकर बैठा है, उस प्रभाव के परिणाम-स्वरूप वह धर्म को पिछड़ेपन का प्रतीक मानता है।

इस तथाकथित प्रगतिशीलता की झोंक में आकर वह धार्मिक आस्थाओं से लगभग विमुख ही होता जा रहा है। धार्मिक आस्थाओं के प्रति अश्रद्धावान होने का कारण यह भी है कि धर्म के नाम पर इन दिनों जो विश्वास और रूढ़ियाँ प्रचलित हैं उन्हें विचार और विवेक की दृष्टि से कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। स्थिति इतनी बदतर है कि धर्म का मूल स्वरूप लुप्त ही हो गया है और उसके स्थान पर ऐसे-ऐसे अंधविश्वास चल पड़े हैं, जिन्हें पहली दृष्टि में देखने पर प्रचलित धर्म के रूप से घृणा ही होती है। इसे प्रथम दृष्टि के प्रभाव से लोग धर्म की आत्मा पर ही संदेह करने लगते हैं और उसकी गहराई में प्रवेश किए बिना उसे ढकोसला, पाखंड आदि कहने लगते हैं।

जहाँ तक आधुनिक धर्म संस्कृति का प्रश्न है, यह माना जा सकता है कि प्रचलित आदिम संस्कृति के पंक से ही आधुनिक धर्म और विज्ञान का परिष्कृत कमल निकला परंतु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि उस कीचड़ को अपने शरीर से लपेटा और मला जाए। अंधविश्वासों से प्रेरित घटनाओं के विवरण जब समाचारपत्रों में पढ़ने में आते हैं तो लगता है कि उस कीचड़ का मोह हमसे छूटा नहीं है और उस मोह से बँधे होने के कारण ही हम धर्म और विज्ञान के उस शिखर को छू नहीं पा रहे हैं जिसे छूकर अनेकों समाज धन्य हुए जा रहे हैं।

उदाहरण के लिए श्रद्धा को ही लें। श्रद्धा का अर्थ है–ईश्वर के प्रति धन्यता के बोध से अंत:करण की भाव–संवेदना जिसमें स्वयं को ईश्वर अथवा इष्ट की अनुकंपा से लाभान्वित अनुभव किया जाता है और किसी न किसी रूप में कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए हृदय दमक उठता है। दान–पुण्य से लेकर दीप जलाने, मंदिर बनाने और कोई भी ऐसा कृत्य करने में संतोष की अनुभूति होती है, जिसका स्वयं को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिलता। पर कभी–कभी वह कृतज्ञता ज्ञापन–श्रद्धाभिव्यक्ति इतनी भौंडी और बेहूदी हो जाती है कि मनुष्य की बुद्धि पर तरस आने लगता है।

पंजाब के समहर गाँव में घटी एक घटना जिसका समाचार अखबारों में 'चिड़े का अंतिम संस्कार' शीर्षक से बॉक्स में प्रकाशित किया गया था दृष्टव्य है। समहर का एक व्यक्ति अपने पिता का श्राद्ध कराने के बाद पंडितों को भोजन आदि कराके निवृत हुआ ही था कि अचानक एक चिड़ा बिजली के पंखे की लपेट में आकर मर गया। घर वाले जमा हो गए और इस घटना का यह अर्थ लगाया गया की चिड़े के रूप में पिताजी ही आए थे और उन्होंने इस योनि में जन्म लिया था। चूँकि उनकी मृत्यु हो गई है इसलिए उनकी आत्मा को शांति पहुँचाने के लिए चिड़े का अंतिम संस्कार बड़ी शान और सम्मान के साथ किया गया।

श्रद्धा व्यक्त करने की एक और घटना है जिसे न केवल अमानवीय वरन आसुरी ही कहा जाना चाहिए। हरिद्वार में लगने वाले अर्द्धकुंभ के मेले पर जब हजारों लोग गंगा में स्नान कर रहे थे तो एक नवजात शिशु को फूलों के दोने में गंगा की लहरों पर बहता पाया गया। हजारों दंपती पुण्य–लाभ की दृष्टि से इस अवसर पर गंगास्नान करने आते हैं और हर की पौड़ी पर एक साथ स्नान कर गंगा मैया को कुछ न कुछ भेंट चढ़ाते हैं। जो शिशु गंगा की लहरों में बहता पाया गया वह एक दंपती द्वारा चढ़ाई गई भेंट ही थी। दंपती अभी अपने शिशु को बहाकर निकल ही रहे थे कि स्नान कर रहे अन्य व्यक्तियों तथा वहाँ तैनात पुलिस के सिपाहियों की उस पर नजर पड़ गई और बालक को बचा लिया गया।

इन घटनाओं का क्या विवेचन किया जा सकता है? एक स्थान पर तो वस्तुस्थिति को समझने के प्रयास से शून्य स्थिति और दूसरे स्थान पर श्रद्धार्चन के लिए अपनी संतान को ही गंगा में बहा देने की मूर्खता। यह अंधविश्वास नहीं तो क्या है? अंधविश्वास के कारण ही कई बार हत्या और नरबलियाँ तक कर दी जाती हैं।

शाहजहांपुर के पास एक बस्ती में रहने वाली एक बांझ महिला द्वारा तीनवर्षीय बालक की बलि चढ़ाने की घटना जब प्रकाश में आई तो उस क्षेत्र में सनसनी फैल गई। बलि देने के एक कथित समाचार में बताया गया था कि बाँझ महिला को संदेह था कि किसी प्रेतात्मा के कारण ही वह निस्संतान है। इसी प्रेतात्मा को शांत करने के लिए उक्त महिला ने ऐसा किया। इसके लिए अभियुक्त स्त्री ने अपने पड़ोस के एक तीनवर्षीय लड़के को फुसलाया और फिर एक कमरे में ले जा कर उसकी हत्या कर दी लेकिन उस महिला ने जब बालक के शव को इधर-उधर करने की कोशिश की तो भेद खुल गया और वह पकड़ी गई।

पिछड़े क्षेत्रों में तो इस तरह की परंपराएँ सामाजिक जीवन में स्थान पाए हुए हैं। बस्तर जिले के आदिवासियों में फसल की बोआई के समय नरबलि या मनुष्य के किसी अंग विशेष की बलि देकर पूजा करने का प्रचलन है। उन लोगों का विश्वास है कि इस प्रकार की पूजा करने से फसल अच्छी होती है। बताया जाता है कि कुछ दिन पूर्व तीन लड़के नारद, रामखिलावन और विषधर आम खाने के लिए जंगल गए थे। आम इकट्ठे कर जब वे एक स्थान पर आकर बैठ गए तो आदिवासियों ने दो तरफ से घेर लिया। एक लड़के ने पूछा-क्या वे आम खरीदेंगे? इतने में ही एक आदिवासी ने नारद को धर दबोचा। शेष दो लड़के जब भागने लगे तो अन्य आदिवासियों ने उन्हें डंडा फेंककर मारा। एक आदिवासी ने नारद के हाथ-पैर पकड़ लिए और दूसरे ने उसका पूरा बायाँ कान, आधा दाहिना कान और निचला होठ काट डाला। उसे इसी हालत में छोड़कर भाग खड़े हुए। खबर पाकर कुछ लोग जंगल की ओर भागे तो उन्होंने घटनास्थल पर नारद को तड़पते हुए पाया।

इतना ही नहीं, किसी रोग, बीमारी या दुर्घटना का कारण भी निर्दोष व्यक्तियों के मत्थे मढ़ दिया जाता है तथा इस कारण उन्हे बुरी तरह यातनाएँ दी जाती हैं। कुछ समय पूर्व मधुबनी बिहार में तो चार व्यक्तियों को केवल इसलिए छुरा मार दिया गया कि एक व्यक्ति को साँप ने डस लिया था और इस कारण उसकी मृत्यु हो गई। साँप डसने से हुई मृत्यु में किसी का क्या दोष? परंतु जिन व्यक्तियों ने छुरा मारा उनका कहना था कि सर्पदंश के कारण वह व्यक्ति नहीं मरा, बल्कि साँप ने उस व्यक्ति को इसलिए काटा था कि एक डाइन ने उस पर अभिचार प्रयोग किया था। घटना के बारे में बताया जाता है कि जिस व्यक्ति की साँप के काटने से मृत्यु हुई थी, वह डाइन का अभिशाप था। इसके बाद ही मृतक के परिवार वालों ने उक्त डाइन को तथा उस परिवार के तीन अन्य व्यक्तियों को छुरे से घायल कर दिया। घाव ज्यादा गहरे नहीं थे परंतु संबंधित व्यक्तियों ने प्राणघातक हमला किया था जिनमें से बाद में दो व्यक्तियों को हिरासत में ले लिया गया।

अंधविश्वास के कारण पशुओं की हत्या कर देना तो जैसे आम बात है। मध्य प्रदेश के तो अधिकांश गाँवों में अभी भी कुछ लोग यह दावा करते हैं कि उन पर देवता आया करता है और इस तरह वे गाँव के सारे लोगों को बुद्धू बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। एक पत्रिका में किसी पाठक का संस्मरण छपा था–"शनिवार का दिन था। मैं गाँव में बच्चों को पढ़ाकर आ रहा था। तभी मैंने रास्ते से थोड़ी ही दूर पर लोगों की भीड़ इकट्ठी देखी। उत्सुकतावश मैं भी वहाँ पर चला गया। वहाँ बड़ा अजीब माहौल बना हुआ था। चबूतरे पर सिंदूर पुती मूर्तियाँ रखी हुई थीं। एक आदमी लाल कपड़े पहने घूम रहा था और गाँव के सभी लोग उसे हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहे थे। एक बूढ़े आदमी ने उससे कहा–"अन्नदाता हमारे गाँव में मक्का की पूरी फसल में इल्ली लग गई है। उन्हें खतम करने का उपाय बताइए।"

"एक बकरा यहाँ लाकर चढ़ा दो। सब इल्लियाँ मर जाएँगी।" उस व्यक्ति ने कहा जिसके सिर पर देवता आया था। लोगों ने ऐसा ही

किया पर इल्लियाँ कहाँ मरनी थीं? वे बढ़ती ही गई और परिणाम यह हुआ कि गाँव में मक्का की पूरी फसल नष्ट हो गई।

अंधविश्वास का यह कोढ़ किस तरह समाज को पतन की ओर धकेलता है, यह कुछ और उदाहरणों से भलीभाँति समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी शुभ कार्य को शुभ घड़ी में आरंभ करने की परंपरा है। अब समझ में नहीं आता कि कौन सी घड़ी शुभ है और कौन सी अशुभ? समय तो सदा एक समान होता है फिर कोई क्षण विशेष किस आधार पर अच्छे हो जाते हैं तथा कोई क्षण किस कारण अशुभ बन जाते हैं? यह समझ में नहीं आता। इसका कोई स्पष्ट मानदंड भी नहीं हैं न ही शुभ-अशुभ घड़ी को जानने-निकलने की सर्वमान्य कसौटी, फिर भी लोग हर छोटे-बड़े काम को शुरू करने में शुभ मुहूर्त तलाशने के लिए पंडितों के पास दौड़े चले जाते हैं। नई दुकान खोलने, नया मकान बनवाने, नए बने मकान में प्रवेश करने, यात्रा पर निकलने, बेटी को विदा करने जैसी छोटी-छोटी बातों के लिए शुभ मुहूर्त पर इतना जोर दिया जाता है कि उसकी प्रतीक्षा में न जाने कितनी हानि उठानी पड़ती है। अशुभ मुहूर्त में कोई काम न करने पर लोगों का ध्यान इतना अधिक केंद्रित होता है और शुभ मुहूर्त पर इतना जोर दिया जाता है कि अनेक आवश्यक कार्यों में विलंब हो जाता है तथा कई बार भयंकर हानियाँ तक उठानी पड़ती हैं।

देवी-देवताओं को लेकर ही कई तरह के अंधविश्वास प्रचलित हैं। यद्यपि देवशक्तियों का अपना एक स्वतंत्र इतिहास है और उनका बुद्धिसम्मत विवेचन भी है। पर यह स्वरूप तो न जाने कहाँ लुप्त हो गया? उसके स्थान पर गाँव-गाँव न जाने कितने देवी-देवता उपज पड़े। उनकी गणना की जाए तो सबकी संख्या लाखों तक पहुँचेगी और मजे की बात यह कि वे इतने दयालु हो गए हैं कि जब चाहें उन्हें किसी स्त्री, तांत्रिक, ओझा या पुजारी के शरीर में बुलाया जा सकता है तथा उनसे संतान होने, धन प्राप्त करने, मुकदमे जीतने और प्रतिपक्षी को पराजित करने जैसे काम कराए जा सकते हैं। इनका काम मात्र थोड़ा चढ़ावा और भेंट-प्रसाद भर से बन जाता है। किसी का काम

बनता है या नहीं, यह सोचने का ही विषय नहीं है। किंतु इतना निश्चित है कि इस देवतागीरी के व्यवसाय में लगकर धूर्तों को मुफ्त का माल उड़ाने की बात बन जाती है।

निम्न वर्ग के पिछड़े लोगों में इस देवतावाद के समान ही जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूँक और नजर-गुजर के दौर भी चलते हैं। दुराचारी और अनीति की कमाई खाने वाले लोग इस प्रवृत्ति का लाभ भी खूब उठाते हैं। कहना नहीं होगा कि इन प्रवृत्तियों के कारण समाज में दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है तथा व्यर्थ का भय एवं अंधविश्वास भी। देववाजी के चक्कर में आकर लोग कैसे-कैसे अनर्थ कर गुजरते हैं, इसके प्रमाण आएदिनों अखबारों में मिलते रहते हैं। ऐसे समाचार बहुधा पढ़ने को मिलते रहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने देवी पर अपनी जीभ काटकर चढ़ा दी, अमुक ने बच्चे की बलि दे दी। विशेष सिद्धि, लाभ, स्वप्न, शकुन या इसी तरह की भ्रामक धारणाओं के आधार पर लोग इस तरह के कुकृत्य करते रहते हैं। प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिए कामनाग्रस्त लोग कई बार अविवेकपूर्ण हरकतें करते रहते हैं तथा किसी देवी-देवताओं के स्थान पर पीर बाबा की मजार, चौबारे और बैठक पर बकरे, मुर्गे, सूअर तथा भैसों जैसे निरीह प्राणियों की बलि चढ़ाते रहते हैं। कई बार तो प्रयोजन सिद्धि के लिए किए जाने वाले इन उपक्रमों में मनुष्यों और छोटे अबोध बच्चों की बलि तक चढ़ा दी जाती है।

इस तरह के नृशंसतापूर्ण कृत्य देखकर विचारशील व्यक्तियों में पूजापद्धति के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। उनका दोष इतना ही होता है कि वे गहराई तक विचार करने का प्रयत्न नहीं करते और जैसा जो कुछ देखते हैं उसी को धर्म मान बैठते हैं, जबकि ऐसे कृत्यों का धर्म से कोई संबंध नहीं। धर्म तो जीवन जीने की कला का नाम है, अध्यात्म व्यक्ति की आस्थाओं और मान्यताओं को ऊँचा उठाने वाली विद्या है। अस्तु, अंधविश्वासों को धर्म का अंग समझने की भूल किसी को भी नहीं करनी चाहिए। स्मरण रखा जाना चाहिए कि अंधविश्वास व्यक्ति और समाज की

दुर्बल मनोभूमि का परिचायक है तथा यह सिद्ध करता है कि उस व्यक्ति या समाज में सोचने-विचारने की स्वत: किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की शक्ति नहीं रही-इस दुर्बलता के कारण ही इस प्रकार के प्रचलन चलने लगते हैं और लोग उन्हीं पर विश्वास करते और उन्हें ही क्रियान्वयन में लाते हैं।

परंपरागत शुभ-अशुभ संबंधी अंधविश्वासों के थोड़े से उदाहरण देकर मानव को मोटी बुद्धि से परखें तो उनका खोखलापन और स्पष्ट हो जावेगा। सर पर कौआ बैठना और यह मानना कि वह व्यक्ति शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होगा और उसके निवारण के लिए झूठा पत्र संबंधियों के पास भेज देना। यह अंधविश्वास समाज में घर किए हुए है। इसमें कोई बुद्धिसंगत बात दृष्टिगोचर नहीं होती है। उसी प्रकार जाते समय मार्ग में बिल्ली का निकल जाना या छींक का आना, उससे यह विश्वास कर लेना कि कार्य असफल होगा, कितना निरर्थक विश्वास है। असफलता तो अपूर्ण प्रयत्नों एवं श्रम से ही प्राप्त होती है न कि बिल्ली के मार्ग में निकलने से। महामारी चेचक आदि रोगों के हो जाने पर यह विश्वास कर लेना कि देवी पर जल चढ़ाने से ही रोग दूर हो जाएँगे कितना गलत विश्वास है। जब तक परहेज न किया जाएगा दवा न होगी, तब तक उसका दूर होना असंभव है। बच्चों को नजर लग जाने पर चूल्हे में मिर्चों का झोंकना और उससे उसका कष्ट दूर होना क्या तर्कसंगत है? पड़वा के दिन यात्रा आरंभ न होना चाहिए क्योंकि उससे कार्य संपन्न न होगा, यह कितना निर्बल विचार है। इसे अनुभव करके सभी देख सकते हैं। फिर भी मान्यता चली जा रही है। समाज में दिशाशूल के संबंध में मान्यता है कि जिस देश में दिशाशूल हो उस ओर प्रस्थान न करें। दिनों के अनुसार दिशाशूल दिशाओं में बदलता रहता है।

यदि इस प्रकार की मान्यता पर समाज दृढ़ रहे तो उस दिशा में आवागमन का साधन ही बंद हो जाना चाहिए। क्यों किसी को हानि हो? किसी दिन कलकत्ते (कोलकाता) जाने वाली ट्रेन बंद रहे तो किसी दिन बंबई (मुंबई) जाने वाली ट्रेन को बंद किया जाना चाहिए। इन व्यर्थ के विश्वासों से सुअवसरता, धन, श्रम, आदि की ही हानि होती है।

समाज में कुरीतियाँ एवं रूढ़ियाँ भी अंधविश्वासों के कारण ही है। विवाह में, आतिशबाजी में और दहेज तथा सजावट आदि में और व्यर्थ के रस्म अदायगी में खरच करना कुरीति ही है। मूल रूप में विवाह तो पाणिग्रहण संस्कार ही है जो शास्त्रोक्त रीति से किया जाता है। अन्य आडंबरपूर्ण रस्म-रिवाज व्यर्थ के हैं। इसी प्रकार मरणोत्तर समाज को भोजन कराने में खरचा करने की प्रथा अनावश्यक है। शुद्धता की दृष्टि से जितना कार्य आवश्यक है, वही सार्थक है।

इन अंधविश्वासों के कारण समाज लुट रहा है। समाज में मनुष्य गंडा-ताबीज में विश्वास कर स्वस्थ रहना चाहते हैं, मुकदमा जीतना चाहते हैं, अपनी आय बढ़ाना चाहते हैं। इस विश्वास का क्या आधार है? प्रयत्नशीलता, सचाई, उद्योग आदि के मूल्य क्या झूठे हैं-जो सचाइयों से आँख बंद कर ताविज पर विश्वास करते हैं वह कितने अंधकार में हैं और ठगे जा रहे हैं।

महिला वर्ग भी संतानप्राप्ति के उद्देश्यों से कितने साधुओं, बाबाओं के भ्रमात्मक चक्कर में पड़कर तन-धन से लुट रही है। उनके वरदानों से संतानप्राप्ति की आशा कितने अंधविश्वास की गहराई में रखे हुए हैं। यदि वर-वधू को कोई शारीरिक या अन्य त्रुटियाँ हैं तो इस विषय में जानकर व्यक्तियों से मिलकर चिकित्सा कराकर उसके योग्य बना सकता है।

यह बात मानना कि घर में बहू के पैर पड़ने से ही घर की अवनति या उन्नति हुई है और इस कारण से उसको बुरा-भला कहना उचित नहीं है। घर में उनके पैरों का प्रभाव नहीं है। घर के रहने वालों की श्रमशीलता, सुयोग्यता और सुसंस्कारों पर ही उन्नति निर्भर है। यदि इस ओर ध्यान न रहे , इस कारण घर में अवनति की स्थिति आए तो उसे दोषी बनाकर जो घर में गृहकलह उत्पन्न करते हैं तथा सहानुभूति का मार्ग छोड़कर घर को कष्ट के गर्त में डाल देते हैं। ये सब अंधविश्वास की मान्यता से ही कष्ट उठाना है। समाज के अनेक परिवारों में गृहकलह छाया है।

ज्योतिषियों के द्वारा भी फलित के नाम पर समाज में काफी अंधविश्वास फैलाया गया है। कभी यह नक्षत्र मानव की उन्नति में बाधक बताए जाते हैं, किसी को साढ़े सात वर्ष का शनीचर लगा है

इसलिए वह कष्ट में है। किसी पर वृहस्पति की कृपा है इसलिए सुखी है। कहाँ तक बात मानी जा सकती है? कर्म का अटल सिद्धांत है, अच्छे कर्मों का फल अच्छा और किए हुए बुरे कर्मों का फल बुरा ही प्राप्त होगा। बबूल के पेड़ में आम के फल नहीं लग सकते। फिर झूठे विश्वास अंधविश्वासों पर करक्यों अपने पुरुषार्थ को कुंठित किया जाए।

इन अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों में अशिक्षित व्यक्ति ही नहीं हैं, शिक्षित भी हैं। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद के भूतपूर्व महानिदेशक डॉ. एस. हुसैन जहीर ने हैदराबाद की आयोजित संगोष्ठी में भारतीय वैज्ञानिकों पर यह आरोप लगाया था कि उनमें से अधिकांश का रुख प्रयोगशाला में कुछ और होता है और प्रयोगशाला के बाहर कुछ और। इस प्रकार के विभिन्न अंधविश्वास, मान्यताएँ केवल भारतवर्ष में ही नहीं विदेशों में भी प्रचलित हैं।

मानव अनादिकाल से ही प्रकृति के संपर्क में रहा है। उसमें अनिष्ट की भावना से भय और लाभ की भावना से लोभ की प्रकृति जाग्रत रही है। इस प्रकार से, प्रकृति को नियंत्रित करने में दोहरे प्रकार के प्रयत्न किए गए। जहाँ तक उसमें समझ थी उसके द्वारा उस पर काबू पाता रहा। जब समझ के बाहर की स्थिति रही, तब वह अपनी भावनाओं से, मान्यताओं, अर्चनाओं के सहयोग से नियंत्रित करने का प्रयत्न करता रहा है। जिससे वैज्ञानिक और श्रद्धा-विश्वास के मार्ग निर्मित हुए। जो वैज्ञानिक मिश्रित विश्वास का मार्ग बना, उसे धर्म के क्षेत्र में मान्यता मिली। किंतु बिना आधार की भावनाओं की अंधविश्वास में ही गणना की गई। प्रत्येक व्यक्ति भय से सुरक्षा और लोभ की संतुष्टि से प्रेरित होता है। जिन व्यक्तियों का यह कथन है कि धार्मिक विश्वासों ने ही अंधविश्वासों को जन्म दिया है उनका कथन ही गलत है क्योंकि धर्म तो सत्य पर आधारित कल्याणकारी भावना है।

जिस प्रकार ज्ञान के प्रकाश में राजा राममोहन राय ने सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, कन्यावध आदि अंधविश्वासों को नष्ट कर सुधार किया, उसी प्रकार आज भी अन्य अंधविश्वासों को नष्ट कर हमें सुधार करना है और समाज को प्रगतिशील बनाना है।

❐

भाग्यवाद नहीं, पुरुषार्थवाद

प्राचीनकाल में ज्योतिष विद्या विज्ञानसम्मत थी। अंतर्गृही परिस्थितियों का अध्ययन तथा समूचे संसार पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन उसका प्रमुख विषय था। गणनाओं के आधार पर इस विद्या के विशेषज्ञ यह जानने का प्रयास करते थे कि यह नक्षत्रों की गति एवं स्थिति में किस तरह के परिवर्तन हो रहे हैं तथा सौरमंडल के अविच्छिन्न घटक होने के कारण पृथ्वी के वातावरण पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है? प्रकाश-ताप, प्राण तत्त्व जैसे कितने ही अनुदान पृथ्वी को सूर्य से प्राप्त होते हैं। अविज्ञात होते हुए भी अन्यान्य ग्रह-नक्षत्रों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका पृथ्वी के संतुलन तथा असंतुलन में हो सकती है। संबद्ध जानकारियाँ ज्योतिष विद्या के माध्यम से प्राप्त होती थी। गणनाओं के आधार पर यह जान सकना संभव था कि आगामी परिस्थितियों तथा वातावरण में क्या परिवर्तन होने वाले हैं। तदनुरूप कृषि आदि कार्यों के लिए योजनाएँ बनाई जाती थीं। इस विद्या के विशेषज्ञों में आचार्य वराहमिहिर, आर्यभट्ट, भाष्कराचार्य आदि ऋषियों का नाम आज भी श्रद्धापूर्वक लिया जाता है।

आत्मविद्या का एक गूढ़ विज्ञान भी है जिसके द्वारा भविष्य का बोध संभव है। प्रचलित भाषा में जिसे अतींद्रिय सामर्थ्य कहा जाता है, उसका एक सुनिश्चित विज्ञान है। ऐसे समर्थ कितने ही अतींद्रिय चेतना संपन्न सिद्धपुरुष होते रहे हैं जिन्होंने वर्तमान के गर्भ में समाहित अदृश्य भविष्य की जानकारियाँ देकर जनमानस को अचंभित किया है। उस रहस्यमय विद्या को जानने वालों की संख्या विश्वभर में उँगली पर गिनने योग्य है। ढूढ़ने पर ऐसे विरले महापुरुष आज भी इस धरा पर मिल जाएँगे जिनके लिए कुछ भी अविज्ञात नहीं है, पर भविष्य बोध की क्षमता से सुसंपन्न होते हुए भी किसी व्यक्ति विशेष के विषय में भावी उद्घोष शायद ही वे करते हैं। इसका कारण यह है कि कर्मफल के सिद्धांत पर सृष्टि की व्यवस्था परिभ्रमण कर रही है। भविष्य कथन उस सृष्टिचक्र में व्यतिरेक उत्पन्न करता है। ऐसी

स्थिति असमय भावी घटनाओं का उद्घोष प्रकृति की मर्यादा एवं व्यवस्था के प्रतिकूल है। तो भी आपत्तिकालीन परिस्थितियों में मानव जाति के हित के लिए उनकी अंतर्निहित क्षमता का लाभ मिलता है। ऐसे सामर्थ्य संपन्न व्यक्तियों को प्रामाणिकता की कसौटी पर पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों ही देशों में कसा जा चुका है। जिसके निष्कर्ष यह बताते हैं कि अध्यात्म विद्या में वह रहस्यमय विद्या विद्यमान है जिसके द्वारा त्रिकाल बोध संभव है।

जो कार्य आज अंतरिक्ष विज्ञान के माध्यम से पूर्ण हो रहा है, वह पुरातनकाल में ज्योतिष विज्ञान की गवेषणाओं द्वारा पूरा किया जाता था। विज्ञानसम्मत उस उपयोगी विद्या के जानकार तो अब यत्किंचित ही मिलते हैं, पर उस विद्या का ध्वंशावशेष फलित ज्योतिष की भ्रांत मान्यताओं से रूप में विज्ञ तथा अविज्ञ दोनों ही समाजों में लोकप्रिय बन रहा है। जन्मकुंडली देखकर, हाथ की, मस्तक की रेखाएँ पढ़कर व्यक्ति विशेष का भविष्य बताने वाले ज्योतिषयों की इन दिनों कमी नहीं है। नौकरी, दुकानदारी, कृषि की भाँति एक बड़े वर्ग का यह व्यवसाय बना हुआ है। बाजार, मेले-ठेलों में घूमते-फिरते ऐसे ज्योतिषी हर किसी को मिल सकते हैं जो थोड़े से पैसे लेकर संपूर्ण भविष्य की जानकारी कुछ ही मिनटों में इस ढंग से दे सकते हैं जैसे चलचित्र की भाँति भावी घटनाएँ उसकी नजरों के सामने से गुजर रही हों। तोता की भाँति शब्दों के हेर-फेर से भूत एवं भविष्य की एक जैसी बात रटते रहने वाले व्यवसायी वक्ताओं की इन दिनों कमी नहीं है। चंद सिक्कों की कीमत पर हर कोई उनकी इस क्षमता का लाभ उठा सकता है तथा अंधविश्वासों के जाल-जंजाल में जकड़ कर भाग्यवाद के चक्कर पर अपनी कार्यक्षमता नष्ट कर सकता है।

विवेक की कसौटी पर फलित ज्योतिष की मान्यताओं को कसने पर उसमें राई-रत्ती भर औचित्य नहीं दीखता। कारण-कार्य की शृंखला में संपूर्ण सृष्टि आबद्ध है। पुरुषार्थ के बल पर हर कोई अपना भविष्य स्वयं गढ़ सकता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। यह बात शत-प्रतिशत सही है। अमुक यह नक्षत्र का योग अमुक

व्यक्ति को प्रभावित करके अमुक प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा करेगा, यह बात बुद्धि के पल्ले नहीं पड़ती। ग्रहों, नक्षत्रों के समष्टिगत प्रभाव की बात तो समझ में भी आती है और विज्ञान विवेकसम्मत भी लगती है पर ग्रह विशेष का व्यक्ति विशेष के ऊपर प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होकर वरदान, अभिशाप देना सफलता-असफलता का कारण बनना औचित्यपूर्ण नहीं लगता।

भाग्यवाद को प्रश्रय देने वाली फलित ज्योतिष की मान्यताएँ हर दृष्टि से हानिकारक हैं। प्रचंड पुरुषार्थ के सहारे अभीष्ट प्रकार की सफलता संपादित कर सकना हर किसी के लिए संभव है। भाग्यवाद मनुष्य की शक्तियों को कुंठित करता है। जो कुंडली में लिखा होगा-वही होगा, यह मान्यता जड़ता को जन्म देती तथा पुरुषार्थ की दृष्टि से नपुंसक बनाती है। सब कुछ पूर्व में ही सुनिश्चित हो चुका है-यह सोच लेने पर किसी प्रकार के काम करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। उस स्थिति की कल्पना की जाए कि हर व्यक्ति ऐसी धारणा बनाकर यदि हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे तो मनुष्य जाति का भविष्य क्या होगा? सुनिश्चित है कि विकासक्रम अवरुद्ध हो जाएगा।

भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन, विश्लेषण करने वाले समाज-शास्त्रियों का मत है कि भारत के लंबे समय तक पिछड़ेपन के गर्त में पड़े रहने तथा गुलामी की जंजीरों में जकड़े रहने के मूलभूत कारणों में फलित ज्योतिष की भ्रांत मान्यताओं की भी प्रमुख भूमिका रही है। शकुन, मुहूर्त, कुंडली के चक्कर में देश की पीढ़ियों ने बहुत कुछ गँवाया है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भाग्यवाद ने देश के पुरुषार्थ को ही दीर्घकाल तक प्रसुप्ति की तमसाछन्न स्थिति में रखा। गुलामी की जंजीरें इसलिए हजार वर्ष तक जकड़ी रही कि जनमानस में यह विश्वास जड़ जमाए था कि प्रस्तुत संकट को दूर कर सकना मानवी पुरुषार्थ द्वारा संभव नहीं होगा। देश के भाग्योदय का सुयोग दैवी अनुकंपा से अपने आप प्रस्तुत होगा देश का पुरुषार्थ सोया रहा। हजार वर्ष से भी अधिक समय गुलामी की कष्टकारक पीड़ा सहनी पड़ी। जिसके फलस्वरूप देश पिछड़ता गया। जनमानस शोषण एवं

दमन के कारण शारीरिक, मानसिक, आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से जर्जर हो गया।

उल्लेखनीय है कि तथाकथित पंडितों के अंधविश्वास के कारण ही अथाह संपत्ति से युक्त सोमनाथ का मंदिर लूटा गया। मुहूर्तवाद तथा देववाद के परावलंबन की मनोवृत्ति जैसे कारण आड़े नहीं आए होते तो राजपूत सेनानियों का बाहुबल महमूद गजनवी की लुटेरी सेना का सामना करने तथा पराजित करने में पूर्णतया सक्षम था पर भाग्यवाद के फेर में पड़ने से क्षत्रियों का वह शौर्य एवं पराक्रम से युक्त पुरुषार्थ किसी काम न आ सके। गजनवी अपने लक्ष्य में सफल रहा तथा लूट-खसोटकर चलता बना।

भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डालने वाले बाबर के जीवन की प्रख्यात घटना है–एक फलित ज्योतिष के विशेषज्ञ ने आकर बाबर से कहा कि अभी आप युद्ध न करें। इस समय युद्ध करने पर आपको सफलता नहीं मिल सकती। बाबर ने पूछा–"आपको यह जानकारी कैसे मिली।" उत्तर में उसने कहा–"मैं भविष्य जानता हूँ।" बाबर ने कहा–"फिर तो आप अपना भविष्य भी जानते होंगे," यह बताइए कि आप कितने वर्ष और जीवित रहेंगे? उस ज्योतिषी का उत्तर था ३७ वर्ष। बाबर ने म्यान से तलवार खींची तथा ज्योतिषी का सिर धड़ से अलग कर दिया तथा सैनिकों को संबोधित करता हुआ बोला जिसे अपने जीवन का अगला क्षण नहीं मालूम ऐसे पाखंडी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उल्लेखनीय है कि उस इतिहासप्रसिद्ध युद्ध में बाबर को सफलता मिली तथा ज्योतिषी की बात मिथ्या सिद्ध हुई।

अंधविश्वासी फलित ज्योतिष की मान्यताएँ न केवल मनुष्य को अकर्मण्य बनाती हैं वरन कितनी बार क्रूर कर्म करने की भी प्रेरणा देती हैं जिन्हें जघन्य अपराध की संज्ञा दी जा सकती है। कहते हैं कि रोमन बादशाह विटैलियस को एक ज्योतिषी ने परामर्श दिया कि यदि रोमन

मृतकभोज—मुरदे का मांस खाने जैसा गर्हित कार्य

मृतकभोज पर विचार करते समय दो कारणों पर ध्यान जाता है, जिनकी वजह से मृतकभोज का प्रचलन हुआ बताया जाता है। पहला तो यह कि उससे दिवंगत व्यक्ति की आत्मा को शांति मिलती है। शास्त्रों में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के बाद उसकी आत्मा की शांति और सद्गति के लिए पुण्य कार्य करने का विधान है। मनीषियों ने मृतदेह के दाह संस्कार को भी एक यज्ञ कहा है। जब शरीर शांत हो जाए, आत्मा का उससे कोई प्रयोजन न रहे तो प्रकृति के पदार्थों को, पंचतत्त्वों को वापस प्रकृति के ही सुपुर्द कर दिया जाए। इसे शरीर यज्ञ की संज्ञा दी गई है। इसीलिए मृतदेह को विधि-विधानपूर्वक जलाकर वेदमंत्रों से अंत्येष्टि संस्कार करना आवश्यक बताया जाता है। पिंडदान, तर्पण, श्राद्ध आदि क्रियाएँ भी गृहशुद्धि के लिए की जाती हैं।

एक दूसरा औचित्य यह बताया जाता है कि दिवंगत व्यक्ति की कमाई उसके नाम पर खरच कर दी जाए और परिजन अपने श्रम की कमाई से ही अपना भरण-पोषण करें। सैद्धांतिक तौर पर ये दोनों बातें ठीक हैं, पर मृतकभोज का आजकल जो स्वरूप प्रचलित है उसमें ये दोनों ही बातें कहीं भी पूरी होती नहीं दिखाई देतीं। मृतकभोज के रूप में एक ऐसी कुरीति हमारे समाज में चल पड़ी है जिसका उपर्युक्त धर्मकृत्य से कोई संबंध नहीं है। कोई व्यक्ति मरा तो उसकी देह का निर्धारित विधि विधान से अंत्येष्टि संस्कार कर दिया जाए। श्रद्धाभिव्यक्ति के रूप में उसके नाम पर कोई पुण्य कार्य किया जाए और उसकी छोड़ी हुई संपत्ति उसी काम में लगा दी जाए। यह बात तो समझ में आती है, पर इसका कोई औचित्य नहीं दिखाई देता कि दिवंगत व्यक्ति के नाम पर बड़े-बड़े भोज-भंडारे किए जाएँ और सामर्थ्य से भी अधिक बड़ी दावतें दी जाएँ।

जिस जमाने में दिवंगत व्यक्ति के लिए भोज देने का प्रचलन हुआ उसका स्वरूप दावतों जैसा कदापि नहीं रहा होगा। भावना यही रही होगी कि शास्त्रविहित कर्मकांड संपन्न करने के बाद कुछ ऐसे कार्यक्रम भी संपन्न हों जिनसे धर्मभावनाओं की अभिवृद्धि हो और दीन-दुखियों की सेवा का प्रयोजन पूरा हो जाए। ऐसे दान-पुण्य में समाजसेवी, लोकोपकार के कार्यों में लगे अपरिग्रही और सेवाव्रती ब्राह्मणों को भोजन कराना तथा वस्त्रादि देना भी शामिल रखा गया था। क्योंकि जिन लोगों ने अपना सारा जीवन दीन-दुखियों की सेवा में लगाया, अपना सारा जीवन समाज के लिए उत्सर्ग कर दिया और निज की आजीविका के लिए कोई आधार न रखकर अपरिग्रही बनकर हरि इच्छा पर अवलंबित रहने का व्रत अपनाया, उनके निर्वाह की व्यवस्था भी समाज द्वारा की जानी आवश्यक थी। उन देव-मानवों की भोजन और वस्त्र की आवश्यकता पूरी करना समाज का कर्त्तव्य था। ऐसे अधिकारी सत्पात्र व्यक्तियों को ही केवल किसी की मृत्यु होने पर भोजन, वस्त्र तथा दान-दक्षिणा देने का विधान था।

लेकिन आज ऐसे व्यक्तित्व कहाँ मिलते हैं और उस आदर्श परंपरा का पालन भी कहाँ किया जाता है? हर जगह बुरी तरह से विकृत रूप में लकीर पीटने की नीति ही अपनाई जाती है। अपनी शक्ति, सामर्थ्य और परिस्थिति के अनुसार इस क्रियाकर्म को पूरा करना तो फिर भी बुरा नहीं है। लेकिन उसे एक सामाजिक दंड के रूप में किसी को भुगतने के लिए विवश करना कहाँ तक उचित है? मृतकभोज के लिए प्रायः तेरहवीं का दिन चुना जाता है और उस दिन दावत का आयोजन किया जाता है, जिसे खाने के लिए जाति बिरादरी के लोग आते हैं। प्रायः दिन-दिन भर आने-जाने और खाने-पीने का क्रम चलता रहता है। जिसे देखकर यदि पहले से पता न हो तो यही अनुमान होता है कि इस घर में कोई बड़ी उत्साहवर्द्धक, आनंददायक तथा लाभदायक घटना हुई है जिससे प्रसन्न होकर ये लोग इतने हर्षोल्लास के साथ इतनी बड़ी दावतें कर रहे हैं।

एक अनुमान यह भी उत्पन्न होता है कि इस परिवार के लोग बड़े अमीर हैं। इनके पास आवश्यकता से काफी अधिक धन है जिसका न कोई उपयोग है और न इस परिवार के लिए कोई महत्त्व। इसीलिए उसे खरच करने का कोई रास्ता न मिलते देखकर ये लोग दावत के बहाने इस तरह काम में ला रहे हैं। सामान्यत: दावतें देने और पार्टियाँ करने का अर्थ ही होता है–विलासिता जिसमें आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा हो जाने पर उसे यार-दोस्तों के बीच हँसी-खुशी के साथ खा-पीकर समाप्त कर दिया जाता है।

मृतकभोज के प्रचलन का जो उद्देश्य रहा हो जैसा कि ऊपर देखा गया आज एक भी पूरा नहीं होता और न ही इसका आयोजन किसी हर्षोल्लास को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। क्योंकि घर में किसी की मृत्यु हो जाने पर शायद ही कोई हर्ष का अनुभव करता हो। शास्त्रीय विधान की दृष्टि से भी देखा जाए तो भी प्रचलित मृत्यु भोज उसकी परिधि में नहीं आते। शास्त्रीय विधान का एकमात्र कारण यही लगता है कि सत्पात्र ब्राह्मण और लोकसेवा में लगे धर्मवीरों का पालन-पोषण हो। पर ऐसे साधु-ब्राह्मण आजकल मिलते कहाँ हैं? उनके नाम पर आजीविका कमाने वाले कुछ नामधारी साधु का वेश पहने व्यक्ति जरूर दिखाई पड़ते हैं। उस नाम और वेश को सार्थक करने वाले तथा उनसे जुड़े हुए महान कर्त्तव्यों एवं दायित्वों को पूरा करने वाले व्यक्ति कहीं भी दिखाई नहीं देते। जब तक उस स्तर के व्यक्ति न मिलें, तब तक ब्रह्मभोज की सार्थकता कहाँ है?

प्रचलित मृतकभोज में उन नामधारी भगवा कपड़े पहनने वाले साधुओं की संख्या भी बहुत कम होती है। उसमें तो यार, दोस्त, मित्र, परिचित, जाति-बिरादरी के लोगों की भरमार रहती है। जिनके यहाँ हम भी दावतें खाने जाते हैं और उस खाई गई दावत का बदला चुकाने के लिए स्वयं भी मृत्युभोज का आयोजन करते हैं। दावतें देने का एक कारण यह भी है कि लोग इसमें अपना बड़प्पन समझते हैं। अपनी

प्रशंसा होते देखकर प्रसन्न होते हैं। खाने वाले अकसर यह कहते हैं कि बहुत बढ़िया दावत हुई, ऐसी दावत हमने आज तक नहीं खाई। पर सोचा जाना चाहिए कि यदि प्रशंसा प्राप्त करना ही हमारा उद्देश्य है तो उसे प्राप्त करने के लिए और तरीके नहीं हैं क्या? दावत खिलाकर प्रसन्नता प्राप्त करने की अपेक्षा तो बेहतर यह है कि ऐसा कोई काम किया जाए जिससे समाज का नाम भी होता हो और दिवंगत व्यक्ति का नाम भी कुछ समय के लिए लोगों की जुबान पर आ जाता हो।

औसतन एक दावत में पाँच सौ से एक हजार के बीच लोग मृत्युभोज खाते हैं। यों पाँच-पाँच छह-छह हजार व्यक्तियों तक को दावत खाते हुए देखा जाता है, पर हम पाँच-छह सौ ही मानें तो उसका भी कम खरच नहीं है। आज के जमाने में एक व्यक्ति के लिए पक्का खाना तैयार करने में कम से कम पाँच रुपये तो लगते ही हैं। पाँच सौ आदमियों के पीछे यह रकम २५००) रुपये हुई। इतनी बड़ी रकम से तो कोई रचनात्मक कार्य कर दिवंगत व्यक्ति के प्रति सार्थक श्रद्धा व्यक्त की जा सकती थी, पर वह किसी को रुचिकर नहीं लगता। साधारणत: लोग भोज करवा कर ही प्रशंसा लूट लेना चाहते हैं।

मृतकभोज में अंधाधुंध पैसा और अन्न बरबाद करने के साथ-साथ लोगों में एक अनर्थकारी प्रतिस्पर्द्धा भी चलती है। कोई नहीं चाहता कि उसकी दावत को घटिया कहा जाए और लोग सोचते हैं कि अमुक व्यक्ति ने अपने बाप के मरने पर इतनी बड़ी दावत दी थी, हमारी स्थिति भी उससे कम तो नहीं है इसलिए हमें भी वैसी ही दावत देनी चाहिए और इस देखा-देखी में सामने वाले से अपने को बड़ा साबित करने के लिए लोग झूठी शान में आकर और भी ज्यादा खुले हाथ से ख़रच करने लगते हैं। वस्तुत: मृतकभोज एक ऐसी प्रथा है जिसे आदिमकाल का ध्वंसावशेष मानकर मुरदे के मांस को खाने जैसा घृणित कार्य समझा जा सकता है। इससे जितनी जल्दी मुक्ति मिले उतना ही उत्तम है।

❐

भिक्षा का अर्थ है—अकर्मण्यता को बढ़ावा देना

दान को धन की शोभा और लक्ष्मी की पूजा कहा गया है। मनुष्य जो कुछ भी उपार्जन करता है। उसमें अकेले का ही श्रम नहीं रहता। अर्जित कमाई असंख्य व्यक्तियों के सहकार और समाज के सहयोग से ही आती है। अन्यथा मनुष्य को बिना किसी की सहायता लिए कमाने को कहा जाए तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति चाय की दुकान लगाकर ही बैठ जाता है तो उसके साथ चाय बनाने वाले, चीनी तैयार करने वाले, दूध, कप-प्लेट, अँगीठी, कोयला, आग से लेकर ग्राहकों तक का सहयोग आ जुड़ता है। यह ठीक है कि वह इन साधनों को उचित मूल्य देकर जुटाता है, पर श्रम का मूल्य यदि सिक्कों को ही माना जाए तो बच्चे के लिए आकुल प्राण और व्यस्त रहने वाली माता का ऋण क्यों नहीं सिक्के देकर चुका हुआ माना जाता है। एक परिवार में जिस प्रकार अन्य सदस्यों का स्नेह और सहयोग रहता है तथा उसे मजदूरी की तरह मूल्यांकित नहीं किया जाता, उसी प्रकार उपार्जन में अन्य लोगों के सहयोग का मूल्यांकन भी नहीं किया जा सकता। सभी लोगों की निर्वाहोपयोगी आवश्यकताएँ पूरी होती रहें, इसलिए सहयोग के विनिमय में मूल्य देने की व्यवस्था है अन्यथा तो व्यक्ति समाज के ऋणों से कभी मुक्त नहीं हो सकता।

इसीलिए शास्त्रकारों और धर्मप्रवर्तकों ने दान की व्यवस्था की है। यह भी कोई समाज का ऋण चुकाने के लिए नहीं वरन समाज से जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसकी कृतज्ञता व्यक्त करने की एक विधि-

व्यवस्था है। एक गिलास पानी पिलाने के लिए देने पर अथवा ऐसी अन्य छोटी-बड़ी आवश्यकताएँ पूरी करने पर धन्यवाद देना एक सामान्य शिष्टता है। हालाँकि पिलाने वाले ने अपना मानवीय कर्त्तव्य पूरा किया है, पर धन्यवाद देना भी पीने वाले का कर्त्तव्य है। यह धन्यवाद-कृतज्ञता की भावना मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाती है। उसी प्रकार उपार्जन को मात्र अपने श्रम का ही मूल्य न मानकर उसके साथ समाज के सहयोग की व्यवस्था का तथ्य देखकर आध्यात्मिक आदर्श कृतज्ञता व्यक्त करने की प्रेरणा देते हैं।

इस कृतज्ञता ज्ञापन को ही दान कहा जा सकता है। मनुष्य जो कुछ अर्जित करता है, जो कुछ कमाता है उसमें से आवश्यकता भर अपने लिए रखकर शेष उन लोगों के लिए विनियोजित कर देना जिन्हें सहयोग की आवश्यकता है-कृतज्ञता अभिव्यक्ति का उच्च स्वरूप है। लेकिन इतना न भी किया जा सके तो स्वयं को अध्यात्मवादी कहने और मानने वालों का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने उपार्जन का एक निश्चित भाग लोकमंगल के कार्यों में समर्पित कर दें। लोकमंगल की भावना से, समाज के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की भावना से जो कुछ दिया जाता है, उसे ही धर्म सर्वसम्मत सात्त्विक दान कहा गया है -

दातव्यामिति यद्दान दीयते अनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्विक स्मृतम्॥

-गीता १७/२०

दिया जाना चाहिए, यह मानकर देश, काल और पात्र के अनुसार प्रत्युपकार की इच्छा न रखते हुए जो कुछ दिया जाता है-वही सात्त्विक दान है।

भगवद्गीता के इस श्लोक में दान-धर्म की समुचित विवेचना आ गई है। दिया जाना चाहिए-अर्थात अहंकार की भावना से रहित

होकर दाता लोग याचक को कुछ देते समय एक अहंकार को उद्दीप्त रखते हैं। कइयों के लिए तो दान बड़प्पन की कसौटी भी है। रेल के डिब्बों में, सड़क-चौराहों पर हाथ फैलाने वाले भिक्षाजीवियों को कुछ देते समय लोगों को शायद ही यह ख्याल आता हो कि यह इसका क्या उपयोग करेगा? सचमुच इसे दिया जाना चाहिए भी अथवा नहीं? उनको तो देना अपने बड़प्पन को मजबूत बनाने और अहंकार को सिद्ध करने का साधन है। सड़क पर चलता हुआ अन्य कोई व्यक्ति जब उसे कुछ नहीं देते तो उनका सीना तन सा जाता है कि यह आदमी कितना कंजूस और मक्खीचूस है अथवा मैं अन्य लोगों की तुलना में कितना उदार हूँ। जबकि कमाने योग्य होने पर भी भिक्षा को व्यवसाय के रूप में लेने वाला व्यक्ति यह मानता है कि चलो एक और मुर्गी हाथ लगी, जिसने बारह आने का न सही चार आने या दस पैसे का अंडा दिया।

अहंकारवश या उदारता का बड़प्पन सिद्ध करने वालों की तरह बिना सोचे-समझे दान देने वालों का दूसरा वर्ग अंध-श्रद्धालु कहा जा सकता है। दान-पुण्य करना धर्म है, दरवाजे पर आए भिखारी को खाली हाथ लौटने देना पाप है आदि की मान्यता रखने वाला कम पढ़ा-लिखा और अशिक्षित आदमी धर्म मानकर भी देश-काल और पात्र का विचार किए बिना दानी बनने लगता है। भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोक में प्रत्युपकार की भावना से रहित होने के साथ देश-काल तथा पात्र का विचार कर दान देने की बात भी कही गई है। किस समय में कैसे व्यक्ति को किस स्थान पर दान देना चाहिए? दान को धर्मस्तर का बनाए रखने के लिए यह जानना भी आवश्यक है। यदि कुपात्र को, हर कहीं और हर कोई देता रहा जाए तो दाता का गौरव और धन तो घटता ही है, जिसे दिया जाता है उसका भी पतन होता है।

जैसे कोई व्यक्ति मदिरालय के सामने खड़ा है, भिक्षापात्र को इसलिए फैलाए खड़ा है कि इसमें कुछ दिया जाए और जो पैसा मिले उससे मद्यपान का व्यसन पूरा हो। अहंकार को तुष्ट करने अथवा अंधश्रद्धा से प्रेरित होकर ऐसी स्थिति में देने वाले का दान कभी सत्प्रयोजनों में नहीं लगता। समाज के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना ही यदि दान का अर्थ है तो यह कैसी कृतज्ञता जो समाज के दूसरे सदस्य को पतन की ओर धकेल दे। इसी से गीता में पुनः कहा है–

अदेशकाले याद्दानंपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसदुच्यते॥

–गीता १७/२२

जो दान देश, काल और पात्र का ध्यान रखे बिना, याचक का अपमान करते हुए, उसके प्रति यह भावना रखते हुए और बिना यह जाने कि वह इसका उपयोग कहाँ करेगा? दिया जाता है, वह तामसी है।

भीख माँगने वाला, दी गई भीख का उपयोग किन कार्यों में करता है? यह जाने बिना, केवल अहंकार की पूर्ति के लिए ही कुछ दिया जाता है तो वह तामसी दान या निकृष्ट स्तर का कृत्य सिद्ध होता है। इस श्लोक में कही गई अंतिम बात का परिणाम आज भिक्षा व्यवसाय के फैलते-फूलते रूप में देखने को मिलता है। असहायावस्था में सचमुच इसी आधार पर अपना निर्वाह करने के लिए विवश लोगों को कुछ दिया जाए, वहाँ तक तो बात समझ में आती है लेकिन आजकल भिक्षा का एक व्यवसाय सा ही चल पड़ा है और उसमें पात्र को पहचान पाना भी एक कठिन समस्या है। मानवी स्वाभिमान की प्रेरणा यह है कि हर व्यक्ति अपनी जीविका स्वयं कमाए। जो विवश हैं उनकी बात को जाने दें तो भी भिक्षा को निर्वाह का एक आसान उद्योग मानकर चलने वालों की संख्या बहुत बड़ी है।

भिक्षाजीवियों में सर्वप्रथम तो साधु बाबा आते हैं, जिनके रूप में आबादी का एक बड़ा हिस्सा भिक्षाजीवी है। साधु-बाबाओं की संख्या करीब ६० लाख है और सब के सब कोई उपयोगी श्रम किए बिना सर्वसाधारण की अंधश्रद्धा का लाभ उठाकर ही शक्कर खाते हैं। समाज का यदि कुछ काम कर रहा होता तो यह वर्ग अपना सारा समय और श्रम जनहित में लगाता। यदि सभी साधु-बाबा ऐसा करते तो उनके निर्वाह का दायित्व समाज द्वारा उठाना भी उचित था, पर कहीं मंदिर में तो कहीं मठ में, कहीं आश्रम में तो कहीं अखाड़े में अपने चेले और भक्तों की संख्या बढ़ाने में लगे साधु बाबा समाज पर भार ही हैं और चेलों की संख्या बढ़ाने के लिए भी इतनी आतुरता इसलिए है कि अधिक मौज-मजे का जीवन व्यतीत किया जा सके।

६० लाख तो गेरुआ-वेश के जटा-जूटधारी साधु-महात्माओं की संख्या है। इनके अतिरिक्त पंडे, पुजारी, पुरोहित, महंत और हट्टे-कट्टे गिड़गिड़ाकर कुछ जीमने के लिए पीछे पड़ जाने वाले भिक्षाजीवियों की भी संख्या इतनी तो मानी ही जा सकती है। इस प्रकार १२० लाख व्यक्ति विशुद्ध रूप से इस प्रकार के मिल जाएँगे, जिनका धंधा ही भक्तों से प्रसाद पाना या भिक्षा माँगना है। साठ करोड़ की आबादी वाले अपने इस देश में १२० लाख भिक्षुक अर्थात प्रति पचास व्यक्तियों के पीछे एक भिखारी। इतनी बड़ी जनसंख्या यदि किसी उत्पादक कार्य में लगे तो अपने देश का नया कायाकल्प हो सकता हैं। उत्पादन बढ़ने से लेकर कृषि के उन्नत होने की संभावनाएँ बन सकती हैं। कुछेक लोग सचमुच विकलांग हो सकते हैं, जिनका जीवन समाज के अन्य सदस्यों की उदारता पर निर्भर है, पर वैसे लोगों की संख्या नगण्य है। कोई उस स्थिति में होता भी है तो स्वाभिमान के विरुद्ध मानकर भिक्षावृत्ति को

अपनाने के लिए तुरंत निश्चय नहीं कर लेता, इस आधार पर करीब-करीब दिखाई देने वाले सभी को भिक्षा व्यवसायी कहा जा सकता है।

महानगरों में तो कई ऐसे गिरोह भी पकड़े गए हैं, जिनका काम केवल बच्चे उड़ाना और उन्हें लूले-लँगड़े बनाकर उनसे भिक्षा मँगवाना था। कितने ही अपराधी और असामाजिक व्यक्ति भी अपने आप को छिपाने के लिए इस भीड़ का सहारा लेते हैं। इस प्रकार भिक्षा व्यवसाय कोई साधारण समस्या न रहकर विकट प्रश्न बन गया है। इस व्यवसाय में लगे व्यक्तियों से कुछ कहने की उतनी गुंजाइश नहीं है जितनी कि उन्हें प्रोत्साहन देने वालों से। चोर-डाकू तो अपने कामों में लगे ही रहते हैं, जनस्तर पर उन्हें परास्त करने, सीधी राह पर लाने की व्यवस्था भी बनाई जा सकती है। जो लोग अवांछनीय क्रिया-कलापों द्वारा फायदा उठाने की प्रवृत्ति अपना चुके होते और उन्हें इस रास्ते पर जितना निर्बाध लाभ दीखता है वह वृत्ति जितनी गहरी जड़ें जमा चुकी होती है, उन परिस्थितियों में समझाने-बुझाने से ही सही रास्ते पर आ जाने की आशा पूरी होना मुश्किल है। उससे अधिक यह है कि उन द्वारों को ही बंद किया जाए जिनसे उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। उन रास्तों की नाकेबंदी करना अधिक सहज है जिन पर वे बेधड़क चले जाते हैं और भिक्षा व्यवसाय को तो लोग इतना अधिक अवांछनीय समझते भी नहीं हैं, फिर भी इतनी विराट जनशक्ति का निष्क्रिय, लुंज-पुंज और निर्जीव ही बने रहना वस्तुतः एक विकट समस्या है।

कहा और समझाया जाना उन्हीं को चाहिए जो दानी और पुण्यात्मा बनने के फेर में भिखारियों की संख्या बढ़ाते रहते हैं। इस व्यवसाय में लगे लोगों को जब तक अपना धंधा लाभदायक और आसान प्रतीत होता रहेगा, तब तक उनकी संख्या में कमी नहीं आ सकती। दो-चार लोग मान भी जाएँ तो उससे क्या होता है? इस धंधे

में प्रवेश करने वाले नए लोग संख्या को पूरा कर देंगे। अत: दानी और उदार बनने से पहले यह विचार करना चाहिए कि जो हम दे रहे हैं, वह सार्थक हो रहा है क्या? गंभीरतापूर्वक विचार के बाद अधिक संभावना इसी निष्कर्ष पर पहुँचने की होगी कि निरर्थक ही नहीं, अनर्थक भी जा रहा है।

अत: बेहतर यह है कि भिक्षा देना ही बंद कर दिया जाए। सचमुच जो लोग सहायतावस्था में हैं उन्हें भी सहायता व्यक्ति के माध्यम से नहीं समाज के माध्यम से मिले। गाँव में जितने घर अपने द्वार पर आए भिखारियों को भिक्षा देते हैं, उसे तत्काल रोक दें और किसी मंदिर में या किसी मसजिद में ऐसी व्यवस्था बना लें कि अपात्र या कुपात्र व्यक्ति उससे जरा भी अनुचित लाभ न उठा सकें और सही अर्थों में जरूरतमंदों को उनका उचित भाग मिलता रहे।

दान का श्रेष्ठतम स्वरूप तो यह है कि स्थूल सहायता की अपेक्षा व्यक्ति को अपने पैरों के बल पर कठिनाइयों को पार करने का रास्ता दिखा दिया जाए, इसे सत्परामर्श या ज्ञान-दान भी कहा जा सकता है। जहाँ भी आवश्यकता हो वहाँ स्थूल सहायता का स्वरूप समाज के प्रति कृतज्ञताज्ञापन की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए ही बनाया जाए। दान को सही अर्थों में ग्रहण करने-समझने की आवश्यकता है। यह तो धर्म का एक अंग है, पर अति अंधश्रद्धा मिलकर उसका स्वरूप विकृत कर देते हैं, आवश्यकता है उसे परिष्कृत करने की।

❐

समाज को जर्जर बनाती—यह ऊँच-नीच, जाति-पाँति प्रथा

हिंदू समाज जितने फिरके और कुनबों में अलग-अलग बँटा हुआ है इतना विश्व का कोई भी समाज या समुदाय नहीं बँटा है। इनकी अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं, रीतियाँ हैं, प्रथाएँ हैं और यहीं एक-दूसरे में इतनी ऊँच-नीच की भावना भी है कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति के हाथ से बना भोजन करना भी पसंद नहीं करता है। ऐसा लगता है कि सारा धर्म यहीं तक है किसके हाथ का बना खाने से धर्म बचा रहता है और किसके हाथ का खाने से धर्म भ्रष्ट हो जाता है। स्वामी विवेकानंद ने जातिगत ऊँच-नीच की इसी भावना को लक्ष्य करके कहा था कि हमारा सारा धर्म चौके-चूल्हे में सिमट गया है और जीवन के दूसरे अन्य क्षेत्रों से धर्म लुप्त होता जा रहा है।

जाति-उपजातियों ने हिंदू समाज की प्रगति में सबसे ज्यादा बाधा पहुँचाई है। आरंभ में तो ये सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से वर्णाश्रम के रूप में आरंभ हुई जो समाज की एक आवश्यकता थी, पर पिछले दिनों के अंधकार युग में इन मान्यताओं ने काफी गहरी जड़ें, जमाईं, वह भी विकृत रूप में। वर्ण व्यवस्था का आधार यह था कि समाज के सभी लोग परस्पर सहयोग से एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करें तथा समाज को आगे बढ़ाएँ। एक-एक-व्यक्ति या परिवार अपने बच्चों को पढ़ाने-लिखाने, खेती, अन्नोत्पादन मकान-निर्माण, कपड़े बुनने जैसे कार्य करने लगे तो यह कठिन तो होगा ही, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में भी अवरोधक होगा। क्योंकि जीवन जितना विशाल

है उतने ही विशाल हैं उसके क्षेत्र। दिन भर के चौबीस घंटे, महीने के तीस दिन या वर्ष के बारह मास प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक समय देने के लिए अपर्याप्त रहते हैं। अतः बेहतर यही रहा कि गाँव में कुछ लोग खेती करें, कुछ कपड़ा बुनें, कुछ मकान बनाएँ और कुछ वितरण करें। इस प्रकार परस्पर सहयोग से सारे समाज का कार्य भलीभाँति चल पड़ा तथा संस्कृति सभ्यता और आदर्श के दो पहियों पर आसानी से लुढ़कने लगी। भगवान कृष्ण ने गीता में इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है–

चातुर्वण्यं मया सृष्टाः गुण कर्म विभागयोः॥

–गीता ४/१३

गुण और कर्मों के अनुसार चारों वर्णों की सृष्टि की गई है, न कि जन्म के अनुसार। इस श्लोक का भाष्य करते हुए डॉ. राधा कृष्णन जी ने लिखा है–"यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया जा रहा है, जन्म पर नहीं। हम किस वर्ण के हैं? यह बात लिंग और जन्म पर निर्भर नहीं है। स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित वर्ण, जन्म और आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित जाति नहीं है।"

महाभारत में इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

एक वर्णमिदं पूर्व विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्म क्रिया विभेदेन चातुर्वण्यं प्रतिष्ठितः॥

–महाभारत ४२/१८८

हे युधिष्ठिर ! पहले एक ही वर्ण था, गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार पीछे उसके चार भेद किए गए।

युधिष्ठिर ने स्वयं एक स्थल पर कहा है–

सर्वे सर्वा स्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
तस्मात् शीलं प्रधानेष्ट् विदुर्ये तत्वदर्शिनः॥

लोगों की संतान सभी प्रकार के स्वभावों की अर्थात भिन्न-भिन्न स्वभावों की होती है। अतः ऋषियों के अनुसार केवल आचरण ही जाति को निर्धारित करने वाला है।

कहा जा सकता है कि आचरण के आधार पर तो भेदभाव किया जा सकता है–यह भी अस्वाभाविक और अनुचित है।

शास्त्र की सम्मति है–

अन्त्यजो विप्र जातिश्च दुष्परीक्ष्येति मे मतिः।
एक योनि प्रसूतश्च एक शाखेन जायते॥

अंत्यज और विप्र जाति के लोग एक ही जाति के सगे भाई हैं। अतः उनमें भेदभाव अस्वाभाविक और अनुचित है। ये सब एक ही शाखा में लगे अलग-अलग फल-फूलों के समान हैं।

वर्णाश्रम सामाजिक व्यवस्था के लिए उपयोगी है, उनका सैद्धांतिक आधार बना रहना चाहिए। आज के आधुनिकतम प्रगतिशील और विकसित देशों में भी इसी सैद्धांतिक आधार पर वर्ण व्यवस्था किसी न किसी रूप में चलती है। बुद्धिजीवी, शासक, व्यापारी और कर्मचारी अन्य कुछ नहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के ही रूपांतर हैं। प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति के नियामकों ने इसी आधार पर वर्ण व्यवस्था की नींव रखी थी और शिक्षा देने वाले, विचारशील बुद्धिजीवियों, शासक, सैनिक और राज्याधिकारियों, व्यापारी, व्यवसायी, कृषक और उद्योगपतियों तथा कर्मचारियों, सेवकों एवं नौकरों को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की संज्ञा दी थी। इसमें किसी को भी न तो ऊँचा समझा जाता था और न ही किसी को नीचा।

शास्त्रकार इस संबंध में बिलकुल स्पष्ट रहे हैं। भविष्य पुराण के ब्रह्मपर्व के ४२वें अध्याय में आता है कि यदि एक पिता के चार पुत्र हैं तो उन चारों में कोई भेदभाव या ऊँच-नीच नहीं माना जाता।

परमेश्वर सब ही का पिता है, इसलिए मनुष्य समाज में जाति-भेद का कोई औचित्य नहीं है।

आजकल तो अंतर्जातीय विवाहों का प्रचलन नहीं है। अंतर्जातीय ही नहीं एक उपजाति के लोग दूसरी उपजाति वालों से विवाह करने में भी हिचकते हैं, पर प्राचीनकाल में ऐसी संकीर्णता नहीं थी। वर-वधू में जाति और उपजातियों का नहीं, गुण और स्वभावों का तालमेल बिठाया जाता था और ऐसे विवाह सामाजिक रूप से मान्य होते थे। व्यास और पराशर मुनि की माताएँ दूसरे वर्ण की थीं। व्यास की माँ केवट की पुत्री थीं और पराशर की माँ श्वपच (चांडाल) के घर जन्मी थी। द्रुपद, मात्स्य, यवक्रीत, आयु, दत्त, द्रोण, कक्षीवान शृंगी महर्षि, कश्यप मुनि आदि नीच कहे जाने वाले कुलों में जन्मे थे। वसिष्ठ ने अपने पौत्र का विवाह चित्रमुख वैश्य की कन्या से किया। राजा नीप का विवाह शुक्राचार्य ब्राह्मण की कन्या से हुआ, इन्हीं के कुल में मुद्गल का जन्म हुआ था। प्रियव्रत क्षत्रिय थे और इसने विश्वकर्मा की पुत्री से विवाह किया। भीष्म के पिता शांतनु ने धीमर-कन्या से शादी की और उसी का पुत्र राज्याधिकारी बना। ययाति क्षत्रिय थे, पर उनका विवाह शुक्राचार्य की बेटी देवयानी से हुआ। वसिष्ठ गणिका के पुत्र थे। मातंग के पिता नाई कुल के थे और माँ ब्राह्मणी थीं।

क्षत्रिय कन्या पद्मा ने पिप्पलाद और लोपामुद्रा ने अगस्त्य ऋषि से विवाह किया था। विश्वामित्र ने मेनका से संबंध स्थापित किया, जिसकी बेटी शकुंतला राजा दुष्यंत को ब्याही गई। शृंगी ब्राह्मण ने राजा दशरथ की पुत्री और भगवान रामचंद्र की बहन शांता से विवाह किया। प्रियव्रत की बेटी उर्जस्वती से शुक्राचार्य ने विवाह किया। सूर्यवंशी कन्या रेणुका का विवाह यमदग्नि ऋषि से हुआ। अर्जुन

क्षत्रिय थे और कृष्ण यदुकुल के, पर कृष्ण की बहन सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ हुआ था।

इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं, जिसमें संबंध जातीय समानता के आधार पर नहीं, गुण, कर्म और स्वभाव के मेल के आधार पर किए जाते थे। आज कई जातियों और कई उपजातियों में मिलने वाले थोड़े से लड़की-लड़कों में गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर खोज, बीन और संबंध का निश्चय करना बड़ा टेढ़ा काम है, क्योंकि एक-एक फिरके में थोड़े-थोड़े से लड़के-लड़की रहते हैं। पारिवारिक, आर्थिक और शैक्षणिक समानता देखने में ही इतने जोड़े अनुपयुक्त हो जाते हैं कि शेष जो बचे रहते हैं, उनमें गुणों और प्रवृत्तियों का मेल बिठाया जाए तो शायद ही कोई उपयुक्त जोड़ा मिले। ऐसी परिस्थितियों में जैसे भी हो और जिस तरह का भी हो ताल मेल बिठाकर विवाह कर देने की जल्दी रहती है। इसका परिणाम योग्य और प्रतिभाशाली संतान होने की क्षीण संभावना के रूप में देखा जा सकता है।

समाज को संतान के रूप में उत्कृष्ट नागरिक दे पाना तभी संभव हो पाता है जब कि माता-पिता योग्य हों और गुणों का सामंजस्य भी रखते हों। यह एक तथ्य है कि मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ी पत्नी-पति के विकास में रुकावट पैदा करती है तो उसी प्रकार अशिक्षित या कम पढ़ा-लिखा पति, पत्नी के विकास में अवरोध उत्पन्न करता है। यों दोनों एक-दूसरे के पूरक और सहयोगी बनकर परस्पर सहयोग भाव से रहते हुए भी एक-दूसरे की कमियों को, पिछड़ेपन को दूर कर सकते हैं, पर वैसी परिस्थितियाँ कम ही लोगों के लिए बन पाती हैं। अतः आवश्यक हो जाता है कि गुण, प्रवृत्ति और प्रकृति के रूप में दोनों एक-दूसरे से समानता रखते हों। दोनों की

योग्यताओं में उन्नीस-बीस का अंतर तो फिर भी चल सकता है, पर दस-बीस का अस्वाभाविक अंतर किसी भी रूप में मेल नहीं खा सकता। ऐसी परिस्थितियों में गृहस्थी की गाड़ी चलने में तो रुकेगी, अटकेगी ही, उनसे उत्पन्न हुई संतानें भी अयोग्य और अकुशल होंगी।

उपयुक्त वर-वधू के चुनाव में ही जाति-उपजातिगत रूढ़िवादी धारणाएँ बाधक बनती हों, इतनी भर की बात नहीं है। कई क्षेत्रों में इनके दुष्परिणाम सामने आते हैं, ऊँची कही जाने वाली जाति के लोगों में एक अहंकार भावना उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण वे अपने को दूसरों से बड़ा समझने लगते हैं। योग्यता और प्रतिभा की दृष्टि से अन्यों की अपेक्षा काफी पिछड़ा होने के बावजूद भी वह ये समझते हैं कि सारी महत्ता और सारा वर्चस्व हमें ही मिलना चाहिए, इसके लिए वे अवांछनीय तिकड़में भी भिड़ाते रहते हैं। यद्यपि आज के समय में यह अपराध है, परंतु तथाकथित उच्च लोगों के मन में सदियों से चली आ रही वह धारणा, अपने ऊँचेपन का अहंकार पूरी तरह दूर नहीं हआ है।

शास्त्र और परंपरा की आड़ लेने वाले शास्त्रों के मूल सिद्धांतों को समझें और अहंकार प्रेरित लोग अपने दृष्टिकोण को उदार तथा विशाल बनाएँ ताकि समाज का स्वस्थ विकास हो। ब्याह-शादियों के मामले में कम-से-कम कुल, गोत्र और उपजातियों के आधार पर ही वर-वधू को तलाशने की संकीर्णता तो टूटनी चाहिए। यदि इतना भी हो सकता तो भविष्य में इसका और अधिक विकास भी हो सकता है। ❐

इन हास्यास्पद परंपराओं से तो बचना ही होगा

विश्व के सभी समाजों में अनेकानेक प्रथा-परंपराएँ प्रचलित हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति अपने समाज, परिवार और कुल की निर्धारित परंपराओं का पालन करता है। कई परंपराएँ ऐसी होती हैं, जिनके पीछे यदि कोई कारण खोजा जाए तो उनका औचित्य भान होता है और कई एक ऐसी होती हैं, जिनके पीछे कोई कारण या आधार मालूम नहीं पड़ते। यदि इस मान्यता से परे रहकर सोचा जाए कि निर्धारित परंपराओं का पालन करना ही चाहिए तो हम स्वयं कई ऐसी प्रथाओं के अनुयायी बने दिखाई देंगे जो हास्यास्पद हैं।

प्रचलित परंपराओं में कई तो ऐसी हैं, जिनकी किसी काल में कोई उपयोगिता रही हो, पर अब अनावश्यक हो गई हैं। अनावश्यक ही नहीं कलंक भी बन गई हैं-जैसे मध्यकाल के अंधकार युग में जब सुंदर स्त्रियों का अपहरण कर उन्हें वासना का शिकार बनाया जाने लगा तो उस समय बचपन में ही विवाह कर देने और विवाहित स्त्रियों द्वारा परदा करने की परंपरा का औचित्य समझ में आता है, पर अब जबकि वह युग बीत गया है तो भी स्त्रियों द्वारा मुँह ढकने की परंपरा ऐसी ही लगती है जैसे उसे किसी अपराध की सजा के रूप में अपना मुँह ढकना पड़ रहा हो। परदा एक छोटी सी बात है, पर इस छोटी सी बात ने ही स्त्रियों के व्यक्तित्व को कितना कुंठित बनाया है, यह सर्वविदित है और इसे बदलने की आवश्यकता भी बड़ी तीव्रता के साथ अनुभव की जा रही है।

न केवल हमारे देश में वरन दुनिया भर में कितनी ऐसी परंपराएँ प्रचलित हैं, जो मनोरंजक होने के साथ-साथ मानव बुद्धि पर तरस

दिलाती हैं। उदाहरण के लिए मलाया में विवाह बड़े अजीब ढंग से होते हैं, वहाँ विवाह के अवसर पर मिट्टी का एक बड़ा सा घड़ा बनाकर वर-वधू के बीच रख दिया जाता है, वधू उसके चारों ओर दौड़ती है तथा वर को उसे पकड़ने के लिए पीछे दौड़ना पड़ता है। वधू तो निर्बाध रहती है, पर वर के मार्ग में कन्यापक्ष के लोग बाधा पहुँचाते हैं और उसे रोककर अजीबोगरीब प्रश्न पूछते हैं। जिनका उसे उत्तर देना पड़ता है और फिर वधू को पकड़ने के लिए दौड़ना पड़ता है, जब वह वधू को पकड़ लेता है, तब कहीं जाकर वह दौड़ रुकती है।

अकेले विवाह को लेकर विश्व भर में इतनी भिन्न-भिन्न विचित्र परंपराएँ प्रचलित हैं कि उन सबकी गणना तो दूर, संख्या का अनुमान लगाना भी कठिन है। नाइजीरिया के पूर्वी प्रदेश में विवाह से पूर्व वर को एक विचित्र परीक्षा देनी पड़ती है। लड़के को इस समय सिर पर पशु का सींग रखकर खड़ा कर दिया जाता है और फिर वधूपक्ष की स्त्रियाँ उस पर कोड़ों से आक्रमण करती हैं। लड़के को परीक्षा में खरा उतरने के लिए कोड़ों की मार सहते हुए निरंतर मुस्कराते रहना पड़ता है तथा यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि सिर से सींग गिरने न पाए। इस प्रकार का आक्रमण तीन बार होता है, हर बार स्त्रियाँ अगला आक्रमण करने से पहले लड़के की सहनशीलता को सराहती हैं तथा उसे प्रोत्साहित करती हैं। तीनों बार इस कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के बाद उसके माथे पर पसीने की खोज की जाती है और यदि एक भी बूँद पसीने की देख ली गई तो लड़के को विवाह के सर्वथा अयोग्य ठहरा दिया जाता है।

पूर्वी अफ्रीका के श्वेत नील क्षेत्र में 'मादी' जाति के लोगों की विवाह रीति विचित्र होने के साथ-साथ मनोरंजक भी होती है। हमारे यहाँ जिस प्रकार लड़के का पिता शादी से पहले लड़की वालों से

दहेज ठहराता है, उसी प्रकार 'मादी' जाति की स्त्रियाँ अपनी लड़की के लिए लड़के से मुँहमाँगी रकम वसूल करती हैं। उसका ढंग यह है कि यदि लड़की विवाह के लिए अमुक युवक के साथ तैयार हो जाती है तो युवक उस लड़की के हाथ में वृक्ष की कोमल शाखा बाँध देता है। यह एक प्रकार से कन्या पक्ष के लिए विवाह का प्रस्ताव होता है। वधू की माँ अपनी बेटी के हाथ में टहनी बँधी देखकर अपने पति से बेटी के विवाह की चर्चा करती है, फिर दोनों मिलकर लड़के के सामने एक धनराशि की माँग रखते हैं, जिसे लड़का यदि देने को तैयार और समर्थ हो तो विवाह होता है अन्यथा नहीं।

नेग्रिटो जाति के लोग जो फिलीपीन द्वीप में रहते हैं, विवाह के लिए विचित्र तरीका अपनाते हैं। विवाह के समय वहाँ वर-वधू एक मचान पर बैठ जाते हैं और अपना सिर परस्पर टकराते हैं। सिर टकराने का यह क्रम तब तक चलता है, जब तक कि दोनों थक न जाएँ। थकने के बाद वधू, वर के साथ उसके घर जाती है और यह देखती है कि वर ने उसके लिए कितने उपहार इकट्ठे किए हैं? यदि एक भी उपहार का अभाव उसे खला अथवा नहीं जँचा तो वह वर को नापास कर अपने पिता के घर वापस ही लौट जाती है।

ब्राजील देश के आदिवासियों को विवाह से पहले अपने होठ छिदवाने पड़ते हैं तथा उनमें काठ के कई चक्के लटकाने पड़ते हैं। यदि एक ही लड़की के लिए अधिक प्रत्याशी हों तो वरीयता उसे ही दी जाती है जिसने अपने होठ तथा कान में अधिक चक्के लटका रखे हों।

न्यू कैलीफोर्निया में स्वयंवर प्रथा आज भी प्रचलित है। वहाँ विवाह के इच्छुक सभी युवक अपने हाथों में नारियल की गिरी लिए

हुए पंक्तिबद्ध खड़े हो जाते हैं, फिर उनके सामने से लड़की निकलती है। वह जिसके हाथ की गिरी खा लेती है उसी से ही उसका विवाह हो जाता है। शादी के समय लड़के वाले कन्यापक्ष को मोटी रकम बहू की कीमत के रूप में चुकाते हैं। अपने देश में भी कई स्थानों पर परिवार में लड़की का होना सौभाग्यसूचक माना जाता है, क्योंकि उसे ब्याहने पर एक बड़ी रकम मिलती है। मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र में अहीर, गूजर और दूसरे निम्न वर्ण के कहे जाने वाले घरों में लड़की का ब्याह पैसे लेकर किया जाता है।

फिजी द्वीप के मूल निवासियों में किसी भी युवक का विवाह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके पास पैतृक संपत्ति के रूप में मकान न हो। विवाह के सप्ताह भर पहले ही वर को अपने शरीर पर नारियल के तेल की तथा बहू को हलदी की मालिश करनी पड़ती है। फिर वर कोई बहुमूल्य उपहार लेकर वधू के घर जाता है, जिसे देखकर लड़की रोना शुरू कर देती है। रो-रोकर जब वह थक जाती है और चुप हो जाती है तो पड़ोस तथा परिवार की स्त्रियाँ उसे जलाशय पर ले जाकर स्नान कराती हैं। नहाने के बाद वर-वधू दोनों ही उस तालाब में मछलियाँ पकड़ते हैं। पकड़ी हुई मछलियाँ भोज में खिलाई जाती हैं और वर-वधू एक ही बरतन में खाना खाते हैं। इस प्रकार विवाह की रस्म पूरी हुई मानी जाती है।

अन्य स्थानों पर जिस प्रकार लड़के की ओर से विवाह की पहल होती है, उसी प्रकार सहारा के रेगिस्तान में तमनरासेट नामक स्थान में विवाह की पहल लड़की की ओर से की जाती है। इस क्षेत्र में बसने वाली तैरिग जाति के पुरुषों को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार नहीं है। अपने देश में आमतौर पर जिस प्रकार माता-पिता

द्वारा चुने गए लड़के के साथ कन्या को जीवन बिताना पड़ता है, उसी प्रकार तैरिग पुरुष को लड़की ब्याह कर ले जाती है। वहाँ लड़की को अपना जीवनसाथी चुनने का स्वतंत्र अधिकार है।

वह भी बड़े विचित्र ढंग से ६०-७० स्त्रियाँ समूह में एकत्रित होकर नगाड़े बजाना आरंभ करती हैं, जो विवाह योग्य युवकों के लिए शादी का आमंत्रण होता है। नगाड़े की यह विशेष आवाज सुनकर पुरुष बुरका ओढ़े ऊँटों पर सवार होकर दौड़े चले आते हैं और उस स्थान पर पंक्तिबद्ध बैठ जाते हैं, फिर उन्हें लड़कियाँ विभिन्न तरीकों से जाँचती-परखती हैं तथा उसके बाद अपनी पसंद के युवक से विवाह करती हैं।

तैरिग जाति के लोगों में यह एक विशेषता है कि वहाँ स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को बुरका ओढ़ना पड़ता है। अफ्रीका के टिंबकटू क्षेत्र में टुआरंग जाति के पुरुष भी इसी प्रकार अपने मुँह को ढककर रखते हैं।

जहाँ तक लड़के के विवाह के लिए विभिन्न परीक्षाओं से गुजरने का प्रश्न है, वहाँ कहा जा सकता है कि उन तरीकों से पौरुष शक्ति और सुदृढ़ शरीर की परीक्षा की जाती है। जिन दिनों पुरुषों की शक्तिमत्ता परखने के और उपाय न रहे हों उन दिनों यह ढंग भले ही उचित-उपयुक्त लगता हो, पर आज तो इन तरीकों को जानकर लोग हँसेंगे ही। जैसे कि पश्चिमोत्तर तिब्बत के निवासियों को शादी के लिए परीक्षा देते समय अच्छी-खासी पिटाई सहनी पड़ती है। उस क्षेत्र में वर जब विवाह के लिए लड़की के घर जाता है तो इधर-उधर छिपकर बैठे कन्यापक्ष के लोग उस पर अकस्मात टूट पड़ते हैं और थप्पड़ तथा घूँसों से उसकी पूजा करने लगते हैं। उनसे जैसे-तैसे अपनी जान बचाकर वर घर के अंदर घुसता है तो छोटी बच्चियाँ और लड़के उसकी पिटाई करने लगते हैं। यह मंगल कार्य समझा जाता है और पिटाई करने वालों को दान-दक्षिणा मिलती है। परीक्षा में उत्तीर्ण

हो जाने की खुशी में लड़के वालों की ओर से शाम के समय भोज भी दिया जाता है।

इन प्रथा-परंपराओं के संबंध में जानकर हम लोगों को आश्चर्य भले ही हो, पर अपने यहाँ प्रचलित परंपराओं को विवेक की कसौटी पर कसें, तो भी इस स्तर से अधिक ऊँची नहीं जाएँगी। जैसे लड़की के घर विचित्र वेशभूषा पहनकर जाना, बाजे बजना, घोड़े पर चढ़ना, खाने के समय जूते चुराना आदि-आदि बातें विचित्र ही नहीं किसी जोकर के करतब सी ही लगती हैं। हमें उनकी विचित्रता इसलिए नहीं खलती कि हम उनके अभ्यस्त हो गए हैं। अन्यथा दूसरे लोग, जो यहाँ के रीति-रिवाजों की पद्धति से अवगत नहीं होते, उन्हें हँसी आने के साथ-साथ हमारी विडंबना पर तरस भी आता है।

विडंबना इसलिए कि ऊपर जिन रीति-रिवाजों का उल्लेख किया गया है, वे सब आधुनिक सभ्यता से शताब्दियों पिछड़े समुदायों में प्रचलित हैं। सभ्य और आधुनिक कहे जाने वाले समाजों में जन्म, विवाह और मृत्यु-जीवन की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर सीधे-सादे ढंग से भावाभिव्यक्ति कर दी जाती है, पर हमारे यहाँ विवाह में तो विचित्र रीति-रिवाज पूरे किए जाते हैं। जन्म और मृत्यु के साथ भी व्यर्थ के कितने ही टंट-घंट और बखेड़े खड़े करने पड़ते हैं। जैसे जन्म के बाद कुंडली बनाना, गृह शांति करवाना, बच्चे के शरीर पर गेहूँ का गूँथा आटा लेपना और दाई, नाइन, मेहतरानी आदि से कितने ही करतब करवाना। मृत्यु के समय तो मरने के बाद तेरह-चौदह दिन तक अनवरत विभिन्न रस्म-रिवाज पूरे किए ही जाते हैं, साल भर तक और न जाने क्या-क्या कमाल होता है?

यदि उनकी जड़ों को कुरेदा जाए तो वे वैसे ही लगेंगे जैसे एक परिवार में शादी के समय बिल्ली मारने की परंपरा चल पड़ी थी। हुआ यह था कि उस घर में एक बिल्ली बड़ा उत्पात मचाती थी, खाने-पीने

की वस्तुओं से लेकर पूजा-सामग्री तक में अपना मुँह डाल देती और उन्हें जूठा कर देती। तो तंग आकर गृहिणी ने उसे पकड़कर माँद में बंद कर दिया। विवाह हो जाने के बाद गृहणी को उसकी याद आई तो उसे माँद से निकाला तब वह मर चुकी थी। उसे निकालते हुए नववधू ने देखा तो समझा कि बिल्ली मारकर माँद में रखना इस घर की कुल परंपरा है। बस उसने भी अपने बेटे की शादी में बिल्ली मारकर माँद में दबा दी और वधू को सिखा, दिया कि घर में जब कभी शादी हो तो इस परंपरा का पालन करना चाहिए।

वस्तुत: कई परंपराएँ तो इसी प्रकार चल पड़ीं। ऐसी प्रथाओं का औचित्य किसी भी कोण से समझ में नहीं आता और उनका स्वरूप जंगली जातियों में प्रचलित भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों के समान है। विडंबना इसीलिए कहा गया है कि कहने को तो हम स्वयं को विश्व को सभ्यता सिखाने वाली जाति मानते हैं, पर परंपरा भक्त इतने हैं कि सैकड़ों साल पहले मर चुकी प्रथाओं की लाश को भी अब तक छाती से चिपकाए हुए हैं, उनका मोह छोड़ने के लिए किसी भी कीमत पर तैयार नहीं।

क्या इसी परंपरा भक्ति से हम पुन: जगद्गुरु का वर्चस्व प्राप्त करने की आशा करते हैं? क्या इन्हीं ऊलजलूल हरकतों द्वारा हम दुनिया को सभ्यता सिखाने का दावा करते हैं? क्या इन्हीं निराधार मूढ़तापूर्ण बातों द्वारा आज की दौड़ती हुई सभ्यता के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने की आशा रखते हैं? हमें परंपराओं की अंधभक्ति छोड़कर उन्हें विवेकपूर्वक अपनाने की रीति-नीति ही अपनानी चाहिए।

❐

विवेकदृष्टि जगाएँ—प्रचलित ढर्रा तोड़ें

जीभ के स्वाद को प्रधानता देते हुए हम चटपटे मसालेदार मिठाई पकवान, तले-भुने भारी गरिष्ठ और हानिकारक पदार्थ भूख से अधिक मात्रा में खाते रहते हैं और अपना पेट खराब कर लेते हैं। यहीं से तरह-तरह की बीमारियाँ पैदा होती हैं। जिनमें पोषक तत्त्वों की समुचित मात्रा भी है और सस्ते भी हैं। उनसे इसलिए नाक-भौं सिकोड़ते हैं कि उनमें तथाकथित जायकेदार चीजों जैसा स्वाद नहीं होता। स्वाद-दृष्टि प्रधान रहने और पेट की स्थिति के साथ भोजन की मात्रा का संतुलन न बनाने से वह आहार जिस पर अपेक्षाकृत श्रम और धन भी अधिक खरच किया गया था, हानिकारक सिद्ध होता है। इसका कारण विवेक-बुद्धि की दुर्बलता है। यदि उसमें प्रखरता रही होती तो स्वाद-लिप्सा को इसलिए दुत्कार दिया गया होता कि उसे अपनाने का मतलब अपने बहुमूल्य स्वास्थ्य की बरबादी हो सकती है।

आहार एक प्रकार से क्षुधा रोग की औषधि है। पोषण की आवश्यकता है, उसे गुणों के आधार पर ही महत्त्व मिलना चाहिए। औषधियाँ स्वाद के लिए नहीं गुण के लिए खाई जाती हैं। यही दृष्टि आहार के संबंध में रहे तो अपना सस्ता आहार भी हमें स्वस्थ और दीर्घजीवी बनाने में भरपूर सहायता कर सकता है। इस तथ्य को जानते-मानते हुए भी स्वाद-लिप्सा की गुलामी नहीं छोड़ते। इसका कारण विवेक का प्रसुप्त पड़ा रहना ही है। यदि वह जाग्रत रहा होता तो स्वाद और स्वास्थ्य दोनों में से किसे महत्त्व मिलना चाहिए? इसका निर्णय करता और साहसपूर्वक यही निर्देश देता है कि आत्मघाती चटोरेपन का बहिष्कार होना चाहिए और केवल वही आहार स्वीकार किया जाना चाहिए जो उपयोगी है। उतनी ही मात्रा ली जानी चाहिए जो नितांत आवश्यक है। जाग्रत विवेक ही वह शक्ति है जो इंद्रियों को, मन को रोक सकता है। लाभ-हानि का विवेचन करके उचित को ही

ग्रहण करने का उसका निर्देश यदि दृढ़तापूर्वक मिला होता तो फिर उसे अस्वीकार करना शरीर या मन के किसी भी भाग के लिए संभव नहीं हो सकता।

दाद खुजाने जैसी क्रीड़ाएँ अपनी ही चमड़ी फाड़कर अपना ही रक्त निकालने जैसी हैं। कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और उससे जब जबड़े छिलने के कारण रक्त निकलता है तो उसे चावपूर्वक पीता है। समझता है कि यह स्वादिष्ट पेय हड्डी में से निकलता है। उस मूर्ख को यह पता नहीं होता कि जबड़ा छिलने से उसकी जितनी क्षति हो रही है, उसकी तुलना में वह स्वाद की अनुभूति भी नगण्य है तो शायद वह सूखी हड्डी चबाना छोड़ देता। पर हम हैं जो कामुकता की तृप्ति के नाम पर अपने जीवनरस को अमर्यादित रूप से नष्ट करते हैं। विनाशकाल को तृप्तिदायक मानते हैं और समझते हैं कि दूसरे साथी-सहयोगी की कृपा मिली है। वास्तविकता यह है कि यह सब कुछ कुत्ते के हड्डी चबाने से बढ़कर कुछ भी नहीं है। यदि विवेक जाग्रत रहा होता तो वस्तुस्थिति समझ में आती और उस दिशा में बढ़े-चढ़े उत्साह को, चिंतन को दुत्कारा गया होता और उन्हें सत्प्रयोजनों में नियोजित करके कहने योग्य लाभ कमाया होता।

किसान पूरे साल भर खेत में कठोर श्रम करता है। सरदी-गरमी की चिंता न करने, फसल बोने, सींचने, निराने, रखाने में दत्तचित्त से लगा रहता है। आरंभ में उसे कुछ नहीं मिलता वरन घाटा ही रहता है। बीज बोने में घर का अनाज मिट्टी में बिखेरने की हिम्मत की जाती है और श्रम के अतिरिक्त समय-समय पर कुछ न कुछ खरच भी किया जाता है। इतने पर भी किसान के चेहरे पर कोई असमंजस नहीं होता। वह भविष्य में अच्छी फसल आने की आशा लगाए रहता है और साल भर के श्रम अनुष्ठान की तपश्चर्या प्रसन्नतापूर्वक पूरी करता है। एक हम हैं उज्ज्वल भविष्य का वरदान पाने के लिए जिस सुव्यवस्थित, सुनियोजित और सुसंस्कृत जीवन पद्धति की आवश्यकता है, उसे पूरा करने से लगभग इनकार ही करते रहते हैं। अस्त-व्यस्त और दुष्प्रवृत्तियों से ग्रसित जीवन जीते हैं। इसकी प्रतिक्रिया भविष्य को अंधकारमय

बनाने जा रही है, इसका आभास भी रहता है, दूसरे जताते भी हैं, फिर भी दिशा बदलने के लिए कोई प्रयास नहीं होता। इसका कारण विवेक-बुद्धि की दुर्बलता ही है। यदि वह सजग-सक्षम रही होती और किसान जितनी समझदारी का परिचय दिया गया होता, उज्ज्वल भविष्य का मूल्य चुकाने के लिए वर्तमान को प्रसन्नतापूर्वक कठोरता के बंधन में कसा होता तो उसका कुछ कहने लायक सत्परिणाम निकला होता, पर ऐसा होता कहाँ है? अदूरदर्शिता केवल क्षुद्र से तात्कालिक लाभों में उलझाए रखती है। समुन्नत भविष्य की झाँकी तक नहीं होने देती। कल्पनाएँ भर उठती हैं कि अगले दिन कितने सुखद होने चाहिए, पर उनका मूल्य चुकाने की न तो इच्छा होती है और न हिम्मत। इनका कारण ढूँढ़ने पर एक ही तथ्य सामने आएगा कि विवेकशीलता धूमल हो गई। उसकी प्रखरता नष्ट-भ्रष्ट हो गई। यदि विवेक जाग्रत रहा होता तो कुशल व्यवस्थापक की तरह उसने जिम्मेदारी अपने कंधों पर उठाई होती और जहाँ भी अव्यवस्था फैल रही है, वहाँ कड़ाई बरतकर सही नीति की प्रतिस्थापना की होती, किंतु अपने जीवन में रोग कुछ भी नहीं होता, सड़ा-गला ढर्रा जो परंपराओं और परिस्थितियों ने गले में बाँध दिया है, वही यथावत चलता रहता है। कभी आत्मसमीक्षा करते हैं तो सुधार की भारी आवश्यकता प्रतीत होती है, किंतु वैसा साहस भरा प्रयास कभी बन ही नहीं पड़ता। इसका तात्पर्य एक ही है कि विवेक के हाथ में कभी कुशल प्रशासक की तरह जीवनरथ की बागडोर सौंपी ही नहीं गई। यदि ऐसा हुआ होता तो आज अपनी जीवन-संपदा जिस कूड़े-करकट के ढेर में पड़ी सड़ रही है वैसी उसकी दुर्गति न होती।

वर्तमान दिनचर्या जिस ढर्रे पर लुढ़क रही है, उसमें पर्याप्त सुधार की आज भी आवश्यकता है और वह छोटे-मोटे परिवर्तन आज ही बड़ी सरलतापूर्वक किए जा सकते हैं। बात छोटी सी है, पर उतने भर से दूनी प्रगति के आधार बनते हैं। एक-एक बूँद रिसने वाले घड़े का छेद यदि रोक दिया जाए और उसमें एक-एक बूँद नई आमदनी की व्यवस्था कर दी जाए तो कहने को तो दूना ही फरक दिखाई दिया,

पर वस्तुतः वह हजारों गुना अधिक होगा। बूँद-बूँद रिसने से घड़े में भरा हुआ अमृत भी कुछ समय में समाप्त हो सकता था और उस मिट्टी के घड़े की कीमत दो कौड़ी रह सकती थी। इसके विपरीत बूँद-बूँद भरने से न केवल उसकी रिक्तता पूर्ण हो जाएगी, वरन सामान्य जल अन्य घड़ों को भी भरने में समर्थ हो जाएगा। पूर्णतया खाली हो जाने और अपने को भरकर दूसरों को भरने योग्य बनने के अंतर को दूना नहीं हजारों गुना कहा जा सकता है। ठीक यही बात अपनी अस्त-व्यस्त दिनचर्या को सुव्यवस्थित बना देने की है। व्यवहारतः इसमें थोड़ा सा ही हेर-फेर करना होता है। धीमी गति से लापरवाही से काम करने में ढेरों समय लगता है और उसका कुछ पता भी नहीं चलता। यदि स्फूर्ति एवं तत्परता को अपनाकर उसी समय को कस दिया जाए तो लचीली रबड़ की तरह उसका विस्तार कई गुना हो जाएगा। उतने ही समय में दूना काम होता दिखाई पड़ेगा। इस प्रकार अन्य प्रकार की ढील-पोल को सुधारकर प्रगति के नए आधार बन सकते हैं। इस प्रकार के क्रियापरक विचार और भावपरक अनेकानेक हेर-फेर हो सकते हैं और उसकी प्रक्रिया चमत्कारी परिणामों के रूप में सामने आ सकती है, पर यह संभव तभी है, जब विवेक तीक्ष्णता उपलब्ध हो।

विवेक में प्रेरणा रहती है। सामान्य विचार-प्रक्रिया का परिणाम उतना भर हो सकता है कि मान्यता बदल जाए। पर स्वभाव और क्रिया-कलाप बदलना मात्र विवेक की तेज धार से ही संभव होता है, क्योंकि उसमें अनौचित्य के प्रति रोष और औचित्य को अपनाने का साहस जुड़ा रहता है। हानि और लाभ के चित्र स्पष्ट रहते हैं। अवांछनीयता अपनाते रहने पर निकट भविष्य में जो विभीषिका उत्पन्न होने वाली है उसका डरावना, किंतु वास्तविकता भरा चित्र प्रस्तुत कर सकना और कलात्मक तत्परता की वांछनीय गतिविधियों के फलस्वरूप उज्ज्वल भविष्य की सुंदर प्रतिमा खड़ी करना विवेकशीलता के लिए ही संभव हो सकता है। उसी की पहुँच सत्य के समीप तक है। उसी में मन तथा इंद्रिय समूह पर हंटर बरसाने की और उन्हें उच्छृंखलता से रोककर बलपूर्वक सही रास्ता पकड़ने के लिए बाध्य करने की शक्ति

है। विवेक नियंत्रित मस्तिष्क मात्र कल्पनालोक में नहीं उड़ता रहता, वरन अव्यवस्थित कार्यपद्धति प्रस्तुत करता है और जीवनक्रम को उसी बात पर चल पड़ने के लिए ऐसी प्रचंड प्रेरणा देता है जिसे अमान्य ठहराना अपने अभ्यस्त पिछड़ेपन के लिए भी संभव नहीं होता है।

जीवन के, संसार के हर पक्ष में भले और बुरे तत्त्व बेतरह गुँथे हुए हैं, उनमें से एक को चयन करना पड़ता है और यह पूर्णतया विवेक पर ही निर्भर है। यदि वह सजग होगा तो लाभ पक्ष को, औचित्य को देखेगा और उसी का अवलंबन करेगा। मामूली अक्ल चाहे कितनी ही तीव्र क्यों न हो, सदा भ्रम-जंजालों में उलझी रहेगी। न अनुचित को छोड़ने का साहस कर सकेगी न उचित अपनाना उसके लिए संभव होगा। विवेकवान में ही वह साहस होता है कि अपनी अवांछनीयताओं की परख-पहचान सके और उसका निराकरण करने के लिए संघर्ष एवं दुस्साहस भरे कदम उठा सके।

अपने समाज में विवाह-शादी के समय होने वाला अपव्यय, कन्या विक्रय, वर विक्रय, बाल विवाह, अनमेल विवाह, मृतकभोज, भिक्षा व्यवसाय, जाति-पाँति के नाम पर ऊँच-नीच की मान्यता, परदा प्रथा, पशुबलि जैसी कितनी ही कुरीतियाँ प्रचलित हैं? भाग्यवाद देव विग्रह, शकुन-मुहूर्त, भूत-पलीत आदि कितनी ही मूढ़ मान्यताएँ भरी पड़ी हैं। विवेकपूर्वक देखा जाए तो पता चलेगा कि ऐसी अनेकों अनगढ़ रूढ़ियाँ मुद्दतों से हमारे पल्ले बँधी चली आ रही हैं जिनका यथार्थ से कोई संबंध नहीं है। फिर भी करोड़ों लोग उन्हें मानते हैं, और इन विडंबनाओं में उलझे रहकर स्वयं हानि उठाते और पूरे समाज को हानि पहुँचाते हैं।

वर्तमान मान्यताओं और प्रचलनों में से आज अधिकांश को बदलना आवश्यक है। पर यह तो तभी हो सकता है जबकि विवेकशीलता को प्रमुखता दी जाए। प्राचीन या नवीन में से किसी का दुराग्रह, पक्षपात न हो तो हम निष्पक्ष न्याय दृष्टि रखकर विवेकवान बन सकते हैं और आदर्श जीवन का सुख-शांति भरा आनंद ले सकते हैं।

❐❐❐

मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)